मनोनुशासनम्

मनोनुशासनम्

आचार्य तुलसी

व्याख्याता .
मुनि नथमल
(आचार्य महाप्रज्ञ)

श्री फतेहचैन भसाली
ट्रस्टी—श्रीमती झमकूदेवी भसाली मेमोरियल ट्रस्ट, सुजानगढ—कलकत्ता
सी॰ आर॰ वी॰ कैपिटल मार्केट्स लि॰, ३१ मर्जबन रोड, वम्बई के सौजन्य से

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक : आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : चालीस रुपये / पचम सस्करण . १६६६ / मुद्रक · पकज प्रिटर्स, मौजपुर

MANONUSHASNAM by Acharya Tulsi Rs 40 00

भूमिका

आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ, तब उसके विकास की दृष्टि भी प्राप्त हुई। विकास के साधनों का अन्वेषण किया गया। एक शब्द में उसे मोक्ष-मार्ग या योग कहा गया।

मोक्ष-मार्ग या योग कोई पारलौकिक ही नहीं है, वर्तमान जीवन में भी जितनी शान्ति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है, वह सब मोक्ष है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार—'जिसने अहंकार और वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली, मन, वाणी और शरीर के विकारों को धो डाला, जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओं के लिए यही मोक्ष है।'[1]

आत्मा की सहजता ही मोक्ष है। वह पूर्ण होती है तो मोक्ष पूर्ण होता है, वह अपूर्ण होती है, तो मोक्ष अपूर्ण होता है। वर्तमान जीवन में मोक्ष नही होता, वह अगले जीवन मे ही होता है—ऐसा नहीं होता।

इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष-मार्ग है। वह अनुशासन से प्राप्त होता है। बल-प्रयोग से वे वशवर्ती नही किए जा सकते। हठ से उन्हे नियन्त्रित करने का यत्न करने पर वे कुण्ठित बन जाते है। उनकी शक्ति विकसित तभी हो सकती है, जब वे प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित किए जाएं।

स्वाध्याय और ध्यान उनके प्रशिक्षण के प्रमुख साधन है। स्वाध्याय इस युग का प्रधान तत्त्व है और ध्यान विलुप्त तत्त्व। स्वाध्याय भी जितना वुद्धि को विकसित करने का साधन है उतना मन को अनुशासित करने

---

१. प्रशमरति, २३० .
निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्॥

का नहीं है।

अणु-अस्त्रों के इस युग में मानसिक संतुलन बहुत ही अपेक्षित है। आज कुछेक व्यक्तियों का थोडा-सा मानसिक असंतुलन बहुत वडे अनिष्ट का निमित्त बन सकता है।

मानसिक सतुलन के अभाव में व्यक्ति का जीवन दूभर वन जाता है। सब संयोगों मे भी एक विचित्र खालीपन की अनूभूति होती है। अनेक व्यक्ति पूछते हैं—शान्ति कैसे मिले ? मन स्थिर कैसे हो ? मैं उन्हे यथोचित समाधान देता। ये प्रश्न कुछेक व्यक्तियों के ही नही हैं। ये व्यापक प्रश्न हैं। इसलिए इनका समाधान भी व्यापक स्तर पर होना चाहिए। 'मनोनुशासनम्' के निर्माण का यही प्रयोजन है। प्राचीन भाषा मे जो योग है, उसकी एक रेखा आज की भाषा में मनोविज्ञान है। मानसिक विकास दोनों मे अपेक्षित है। मन को केन्द्रित किए बिना उसका विकास नही हो सकता। योगशास्त्र मानसिक विकास को अतीन्द्रिय ज्ञान की भूमिका तक ले जाते हैं। बुद्धि और मन से परे जो चेतना है, वही वस्तुतः अध्यात्म है। वहां पहुंचने पर ही व्यक्ति को सहजानन्द की अनुभूति होती है। वह स्थिति मानसिक विकास के वाद ही प्राप्त होती है।

मन को अनुशासित करना जितना एक जैन के लिए उपयोगी है, उतना ही एक अजैन के लिए भी उपयोगी है। यह मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। यह अणुव्रत-आन्दोलन की भांति सवके लिए है। अध्यात्म अमुक-अमुक के लिए नही, किन्तु प्रत्येक आत्मा के लिए है।

मनुष्य में अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द और अनन्त चैतन्य होता है। किन्तु मन को अनुशासित करने का मार्ग नहीं जानता इसलिए वह अपने आपको कभी निर्वल, कभी दुःखी और कभी अज्ञानी अनुभव करता है। इसी अवस्था को मै धनवान् की गरीवी कहता हूं।

आज का युग नवजागरण का युग है। सवका जागरण हो रहा है, तव मन भी जागृत होना चाहिए। सव जाग जाएं और मन सो जाए—यह वाछनीय नही है। वांछनीय यह है कि जागरण से पूर्व मन जग जाए।

सहज अनुशासित मन ही जागृत मन है। आज के मानव को उसकी प्रक्रिया की अपेक्षा है। उसी प्रक्रिया का दिग्दर्शन 'मनोनुशासनम्' मे कराया गया है। इसकी भापा मैंने संस्कृत इसलिए रखी कि सस्कृत मे थोडे में

जितना अधिक कहा जा सकता है, उतना दूसरी भाषा में कहना कठिन है। इसकी सूत्रबद्ध शैली के पीछे भी यही संक्षेपीकरण का दृष्टिकोण रहा है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने इसकी विस्तृत व्याख्या लिखकर तथा इसे अपनी अनुभूति से आप्लावित कर बाल, युवा और वृद्ध—सब लोगो के लिए अधिक उपयोगी बना दिया है। बृहद् व्याख्या के बिना केवल सूत्र इतने जनोपयोगी नही हो सकते थे। मेरी प्रेरणा को उन्होंने मूर्त रूप दिया है। योग में उनकी सहज गति है। ज्ञान के अभ्यासी होने के कारण उनकी भाषा में वेधकता है। दर्शन के अभ्यासी होने के कारण दार्शनिक तत्त्वों को भी उन्होने सहजगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। व्याख्या सहित 'मनोनुशासनम्' योग में रुचि रखने वाले लोगो के हाथों मे प्रस्तुत है। हमारे धर्म-सघ में तो इसका अधिक उपयोग होगा ही पर प्रत्येक जिज्ञासु मनुष्य इससे लाभान्वित होगा।

अणुव्रतनगर
मोतीबाग, रायपुर (म॰ प्र॰)
२१ जुलाई, १९७०

—आचार्य तुलसी

आमुख

प्रत्येक धर्म का अपना स्वतंत्र साध्य होता है और उसकी सिद्धि के लिए उसी के अनुकूल साधना-पद्धति होती है। महर्षि पतजलि ने साख्यदर्शन की साधना-पद्धति को व्यवस्थित रूप दिया और योग नाम से एक स्वतंत्र साधना-पद्धति विकसित हो गई। अब हर साधना-पद्धति योग नाम से अभिहित होती है। योग स्वयंसिद्ध नाम है। दूसरे धर्मो की साधना-पद्धति की जैन योग, बौद्ध योग—इस प्रकार पहचान की जाती है। किन्तु जैनो और बौद्धो की साधना-पद्धति की स्वतंत्र संज्ञा है। जैनों की साधना-पद्धति को मोक्षमार्ग और बौद्धो की साधना-पद्धति को विशुद्धिमार्ग कहा जाना है।

उपनिषद्-साहित्य में षडंग योग का उल्लेख मिलता है[1]—प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि।

पातंजल योगदर्शन मे अष्टांग योग का उल्लेख है[2]—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

बौद्ध साधना-पद्धति में आर्य अष्टागिक मार्ग का उल्लेख है[3]—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सकल्प, सम्यग्वाणी, सम्यग्कर्म, सम्यग्आजीविका, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि।

मोक्षमार्ग चतुरंग है[4]—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

---

१. मेत्रायणी उपनिषद्, ६/१८
पाणायाम· प्रत्याहारो ध्यान धारणा तर्क समाधि· षडग इत्युच्यते योग·।

२ पातजल योग-दर्शन, २/२९
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि।

३ सयुक्तनिकाय, ५/१०

४ उत्तराध्ययन, २८/२

ज्ञान से सत्य ज्ञात होता है। दर्शन से वह स्थिर होता है। चरित्र से असत्य का सम्पर्क विच्छिन्न होता है और तप से असत्य के संचित संस्कार क्षीण होते हैं।

चारों के समवाय से आत्मा असत्य से विच्छिन्न होकर अपने सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

साधना की समग्र पद्धति जिस मन्दिर की परिक्रमा करती है, उसका देवता है—मन। उसकी सिद्धि सबकी सिद्धि और उसकी असिद्धि सबकी असिद्धि होती है।

केशी स्वामी ने गौतम से पूछा—तुम शत्रुओ पर विजय कैसे प्राप्त करते हो ?

गौतम ने कहा—भते । मैं एक पर विजय प्राप्त करता हू। उससे चार स्वयं विजित हो जाते हैं। उनके विजित होने पर पाच और विजित होते है। इस प्रकार दस पर विजय प्राप्त कर लेता हू। इसका अर्थ यह होता है कि मै सब शत्रुओं पर विजय पा लेता हूं।

केशी ने फिर पूछा—तुम शत्रु किसे समझते हो ?

गौतम ने कहा—आत्मा, कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—और पचेन्द्रिय, ये दस शत्रु है। मै इन पर विजय प्राप्त कर सुख से विचरता हू।

यहां आत्मा का अर्थ मन है। इसे जीते विना कषाय और इन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए 'मनोनुशासनम्' की अपने आप मे सार्थकता है।

मन को अनुशासित करने के लिए शरीर, श्वास आदि को अनुशासित करना भी आवश्यक होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे मन तथा उसके लिए अन्य जितने भी अनुशासनीय है, उन सवके अनुशासन की प्रक्रिया निरूपित की गई है।

आचार्यश्री तुलसी महान् प्रेरणा-स्रोत है। वे स्वय प्रकाशित और पर-प्रकाशी है। उन्होंने समय-समय पर ज्योति विकीर्ण की है।

तत्त्वज्ञान की अपेक्षा थी, तव आचार्यवर ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की रचना की। वह तत्त्वजिज्ञासु व्यक्तियों के लिए वहुत ही प्रेरक वनी।

दृष्टि-परिष्कार के लिए आचार्यवर ने 'भिक्षुन्यायकर्णिका' की रचना की। न्यायशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए वह बहुत ही लाभप्रद हुई।

व्यवहार-परिष्कार के लिए आचार्यश्री ने 'पंचसूत्रम्' का प्रणयन किया है। वैचारिक परिपक्वता और अनुशासित जीवन-पद्धति की उपलब्धि के लिए उसका अपना विशिष्ट मूल्य है।

आज सर्वाधिक अपेक्षा मन को अनुशासित करने की है। उसकी पूर्ति के लिए आचार्यश्री ने 'मुनोनुशासनम्' का प्रणयन किया है। यह आकार मे लघु है पर प्रकार मे गुरु। इसमे योगशास्त्र की सर्वसाधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताए नही है। किन्तु जो हैं, वह अनुभवयोग्य और बहुजनसाध्य हैं। इस मानसिक शिथिलता के युग मे मन को प्रवल बनाने की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने मानव-जाति को वहुत ही उपकृत किया है। हमारी आशंसा है कि युग-युग तक हमे इस महान् ज्योति से ज्योति की रेखाए प्राप्त हों।

'मनोनुशासनम्' का संक्षिप्त अनुवाद आचार्यवर के धवल समारोह के पुण्य पर्व (वि॰ स॰ २०१८) पर प्रकाशित हो चुका था किन्तु उससे पाठक की दृष्टि स्पप्ट नहीं हो रही थी। अनेक लोगों की यह भावना थी कि इसे कुछ विस्तार से लिखा जाए। इस अपेक्षा को मैं स्वयं भी अनुभव करता था। आचार्यश्री भी इस ओर इगित कर चुके थे किन्तु प्राप्त कार्यो की पूर्णता न होने तक यह कार्य निष्पन्न नहीं हो सका। आचार्यश्री ने इस कार्य के लिए समय की विशेष व्यवस्था की और यह कार्य सम्पन्न हो गया।

इस कार्य में मुनि गुलावचन्द्र 'निर्मोही' मेरे सहयोगी रहे है। मै लिखाता गया और वे लिखते गए। मैं वोला हू, इतना कार्य मेरा है, शेप सव कार्य उन्होने किया है। यदि ऐसा नही होता तो अन्य कार्यो की व्यस्तता मे इसका निर्माण संभव नही था।

मनोनुशासनम् की रचना के पश्चात् प्रेक्षाध्यान की पद्धति का निर्धारण किया गया। उसके प्रयोग चल रहे है। किन्तु ध्यान का विशिप्ट विकास चाहने वालो के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ और इसके परिशिष्ट अत्यधिक मननीय और अनुशीलनीय है।

आचार्यश्री का अपना ग्रन्थ अपनी ही आलोक-रेखा से अलोकित हो, यह उनके और मेरे—दोनो के लिए आनन्द का प्रसग है।

अणुव्रतनगर
मोतीबाग, रायपुर (म. प्र.)
२१ जुलाई, १९७०

मुनि नथमल
(आचार्य महाप्रज्ञ)

अनुक्रम

चौथा प्रकरण ९२–१२१

पांचवां प्रकरण १२२–१३१

सातवां प्रकरण १५१–१५५

पहला प्रकरण

१. अथ मनोनुशासनम् ॥

१ इस ग्रंथ मे मन को अनुशासित करने की पद्धति बतलाई गई है अतः इसका नाम मनोनुशासनम् है।

ध्येयनिष्ठा

जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—मुक्ति। बन्धन किसी भी व्यक्ति को प्रिय नही है। जिसमें चेतना का किंचित् भी विकास है, उसमें मुमुक्षा है और वह इतनी अपरिहार्य है कि उसे मिटाया नही जा सकता। इसीलिए यह कहना सर्वथा संगत है कि मुक्ति जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। जिसके ध्येय और प्रवृत्ति मे विसगति होती है, वह ध्येय के निकट नही पहुंच पाता। जैसे-जैसे ध्येय और प्रवृत्ति की विसगति मिटती जाती है, वैसे-वैसे ध्येय सधता जाता है।

एक व्यक्ति का ध्येय है मुक्ति और वह खाता है शरीर की पुष्टि के लिए, सुनता है कान की तृप्ति के लिए और देखता है आंख की तृप्ति के लिए। यह ध्येय की विसगति है। जव हमारा ध्येय अनेक रूपों मे वट जाता है, तव हम मूल को नहीं सींच पाते। शाखाओ, पत्तों और फूलों को सीचने का अर्थ होता है उनका सूख जाना। मूल सीचा जाता है तो शाखाए, पत्र और पुष्प अपने आप अभिषिक्त हो जाते है। यह ध्येय की सगति है। मूल को छोडकर शेष अवयवो को सीचना ध्येय की विसगति है। खाना शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है। सुनना और देखना इन्द्रियों की अनिवार्यता है। कान के पर्दे और आंख के गोलक को फोडा नही जा सकता। कोई भी आदमी निरन्तर कान मे रुई और आख पर पट्टी वाधकर वैठ नही सकता। जिसे आंख प्राप्त है,

वह देखता है और जिसे कान प्राप्त है, वह सुनता है। देखना और सुनना अपने-आप में अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। उसमे अच्छाई और बुराई ध्येय के आधार पर फलित होती है। हम मुक्ति के लिए देखें, मुक्ति के लिए सुने, मुक्ति के लिए खाएं और मुक्ति के लिए जिएं तो हमारा जीना भी साधना है, खाना भी साधना है, देखना और सुनना भी साधना है।

आचार्य हरिभद्र ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इन शब्दो मे की है—'मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो'—वह सारा धार्मिक व्यापार योग है जो व्यक्ति को मुक्ति से जोड़ता है। योग वही है जो मुक्ति के लिए है और मुक्ति से जुड़ा हुआ है। बन्धन के लिए या बन्धन से जोडने वाली कोई भी प्रवृत्ति न धार्मिक हो सकती है और न यौगिक।

भगवान् महावीर ने कहा है—संयम से चलो, संयम से खड़े रहो, सयम से वैठो, सयम से सोओ, सयम से खाओ और सयम से वोलो, फिर पाप-कर्म का बन्धन नही होगा। बन्धन वहीं है जहा सयम नही है और मुक्ति का ध्येय निष्ठित हुए विना जीवन में संयम आता नही। मुक्ति हमारे जीवन का ध्येय है और संयम ध्येय-पूर्ति की साधना है। उन दोनों में सामंजस्य है। मुक्ति और असंयम में सामंजस्य नही है। हमारा ध्येय मुक्ति हो और हमारी जीवनगत प्रवृत्तियो मे संयम न हो, वह ध्येय और ध्येय-पूर्ति की विसंगति है। जीवन में संयम लाने का प्रयत्न हो और मुक्ति का ध्येय निष्ठित न हो, वह भी विसगति है। विसगति की दशा में जिसकी निष्पत्ति हम चाहते है, वह निष्पन्न नही होता। इसकी निष्पत्ति ध्येय और साधना के सामजस्य से ही हो सकती है।

कोई व्यक्ति मुमुक्षु है तो उसमें संयम होना स्वाभाविक है। मुमुक्षा उसकी प्रवृत्तियो का सहज भाव से नियमन करती है। मुमुक्षु व्यक्ति खाएगा किन्तु खाने मे आसक्त नही होगा। वह देखेगा और सुनेगा किन्तु देखने और सुनने मे उसकी आसक्ति नही होगी। आसक्ति ओर अनासक्ति के वीच भेदरेखा ध्येय के द्वारा ही खींची जाती है। जिसमे मुमुक्षा है, उसकी प्रवृत्ति इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नही हो सकती किन्तु प्राप्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए होती है। जहा प्रवृत्ति ध्येय की पूर्ति के लिए की जाती है,

वहा धूप से वचाने वाली छत वन जाती है और जहा ध्येय को भुलाकर प्रवृत्ति की जाती है, वहा वह मोतिया वन जाती है। छत का हमारे लिए उपयोग है इसलिए हम उसे पसन्द कर सकते है किन्तु मोतिया हमारी ज्योति को आवृत करता है इसलिए उसे पसन्द नही किया जा सकता। हमारी ध्येयनिष्ठा दुर्वल होती है, उस स्थिति में प्रवृत्ति मोह और आवरण वन जाती है और हमारी ध्येयनिष्ठा प्रवल होती है तव प्रवृत्ति हमारा वचाव करने लग जाती है। इस सारी परिस्थिति मे जो सत्य उभरता है वह है ध्येयनिष्ठा। जिसकी ध्येयनिष्ठा जितनी प्रवल होगी वह उतना ही जीवन की विसंगतियों से वच पाएगा। ध्येयनिष्ठा के अभाव मे जीवन की विसगतियो को मिटाने की वात हम सोच सकते हैं किन्तु उन्हे मिटा नही पाते।

२. इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः॥

३. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि इन्द्रियाणि॥

२. मन सज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेषणो से की जाती है—

(क) वह इन्द्रियो के द्वारा गृहीत विपयो मे प्रवृत्त होता है, इसलिए इन्द्रिय-सापेक्ष है।

(ख) वह शव्द, रूप आदि सव विषयो को जानता है, इसलिए सर्वार्थग्राही है।

(ग) वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो का सकलनात्मक ज्ञान करता है, इसलिए त्रैकालिक है।

३. इन्द्रिया पाच हे—

१. स्पर्शन
२ रसन
३. घ्राण
४. चक्षु
५. श्रोत्र

इन्द्रिय और मन

चेतन्य की दो भूमिकाएं हे—विकसित और अविकसित। विकास का

सर्वाधिक निम्नस्तर एकेन्द्रिय मे होता है—उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का विकास होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवो के चैतन्य का क्रमिक विकास होता है। द्वीन्द्रिय को दो इन्द्रिय स्पर्शन और रसन का ज्ञान प्राप्त होता है। त्रीन्द्रिय के घ्राण, चतुरिन्द्रिय के चक्षु और पंचेन्द्रिय के श्रोत्र विकसित हो जाते हैं। इन्द्रिय विकास चैतन्य का पहला स्तर है। चैतन्य का दूसरा स्तर है—मानसिक विकास। वह केवल पंचेन्द्रिय जीवों को ही प्राप्त होता है।

मनुष्य पंचेन्द्रिय है और मानसिक विकास भी उसे प्राप्त है। यद्यपि इन्द्रिय और मन दोनों चैतन्य के विकास है, फिर भी दोनों की विकास-मात्रा मे वहुत तारतम्य है, इन्द्रिया केवल वर्तमान को ही जानती है। मन भूत, भविष्य और वर्तमान तीनो को जानता है। इन्द्रियों में आलोचनात्मक ज्ञान की शक्ति नही है। मन मे आलोचना की क्षमता है। वह इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयो का ज्ञान करता है और स्वतंत्र चिंतन भी।

संज्ञान दो प्रकार के होते है—तात्कालिक और त्रैकालिक। तात्कालिक संज्ञान चीटी जैसे क्षुद्र प्राणियो में भी होता है। वे इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से बचने के लिए निवृत्त होते है किन्तु वे भूत और भविष्य का सकलनात्मक संज्ञान नही कर सकते। उनमे स्मृति और कल्पना का विकास नही होता। त्रैकालिक सज्ञान मे स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमे भूत और भविष्य के सकलन की क्षमता होती है। इसलिए मन को दीर्घकालिक सज्ञान भी कहा जाता है।

प्रश्न—क्या मन ज्ञानात्मक है ?

उत्तर—भाव मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है, इसीलिए वह ज्ञानात्मक है, किन्तु उसका कार्य स्नायुमण्डल, मस्तिष्क और चिंतन-योग्य पुद्‌गलों की सहायता से होता है, इसलिए वह पौद्‌गलिक भी है। हमारी शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार की क्रियाए स्नायुमण्डल के द्वारा सचालित व नियन्त्रित होती है। मस्तिष्क के दो भाग है—

१. वृहन्मस्तिष्क

२. लघु मस्तिष्क

ज्ञानवाही स्नायु वृहन्मस्तिष्क तक अपना सन्देश पहुचाते है और

उसके ज्ञान प्रकोष्ठ क्रियाशील हो जाते है, मन का मुख्य केन्द्र यह वृहन्मस्तिष्क है।

कुछ आचार्य मन का स्थान हृदय को मानते हैं और कुछ आचार्य उसे समूचे शरीर में व्याप्त मानते है। उसका कोई निश्चित स्थान नही मानते। उनका मत है कि जहां श्वास है, वहा मन है और जहां मन है वहा श्वास है। ये दोनो दूध और पानी की भाति परस्पर मिले हुए हैं–

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्तत।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, सवीतौ क्षीरनीरवत्॥
(योगशास्त्र ५/२)

मन समूचे शरीर मे व्याप्त है। इसका अर्थ यह नही होना चाहिए कि मानसिक क्रिया के प्रयोजक केन्द्र सारे शरीर मे है। सवेदनावाही और ज्ञानवाही स्नायु समूचे शरीर में हैं। वे मस्तिष्क से सम्बद्ध है, इसलिए मानसिक व्यापार समूचे शरीर मे सम्प्रेपित होता है, किन्तु उसका केन्द्र स्थान समूचा शरीर नही है।

प्रश्न–क्या मस्तिष्क की क्रिया ही मन नहीं है ?

उत्तर–मस्तिष्क की क्रिया मन का एक भाग है किन्तु केवल वही मन नहीं है।

प्रश्न–क्या मस्तिष्क के विना मानसिक क्रिया होती है ?

उत्तर–आख के गोले के विना कोई देख नही सकता, फिर भी उस गोलक की क्रिया को ही देखने की क्रिया नही कहा जा सकता। वैसे ही मस्तिष्क के विना मनन की क्रिया नही होती, फिर भी मस्तिष्क ही मन नही है। आंख का गोला देखने मे सहयोग करता है, वैसे ही मस्तिष्क मनन मे सहायक है। चेतन्य का विकास और मस्तिष्क-रचना दोनो के समुचित योग से ही मानसिक क्रिया निष्पन्न होती है।

साधना के लिए इन्द्रियो और मन की क्रिया और प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। बाह्य जगत् के साथ हमारा सम्पर्क इन्द्रियों और मन के माध्यम से होता है। दृश्य जगत् को हम आखों से देखते है, श्रव्य जगत् को हम कानो से सुनते है, गन्धवान जगत् को हम सूघते है, रसनीय जगत् का हम रस लेते है और स्पृश्य जगत् का हम स्पर्श करते है। रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व इन्द्रियो के लिए नही है फिर भी उनने

ग्राह्य-ग्राहक भाव है। इसलिए इन्द्रियां ग्राहक है और विषय उनके द्वारा गृहीत होते हैं। इन्द्रिय और विषय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। वह साधना का विषय नहीं है किन्तु एक मनुष्य दृश्य को देखता है और उसके प्रति उसके मन में राग या द्वेष की ऊर्मि उठती है, यह स्थिति साधना की परिधि में आती है। इन्द्रियो का प्रयोग करना और उसमे राग या द्वेष की ऊर्मियो को उठने न देना, इसी का नाम है साधना। यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य को शुद्ध चैतन्य की भूमिका का अनुभव प्राप्त हो।

जानने और राग या द्वेष की ऊर्मि उत्पन्न होने में निश्चित सम्बन्ध नही है। किन्तु जहा साधना नहीं होती, चैतन्य की केवल चैतन्य के रूप मे अनुभूति या स्वीकृति नही होती, वहा ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध अनुरागी और प्रेम या द्वेष्टा और द्वेष्य के रूप मे बदल जाता है। ज्ञान के उत्तरकाल में होने वाले राग या द्वेष को निर्वीर्य करना ही साधना का उद्देश्य है।

क्या यह सभव है, कोई व्यक्ति सुस्वादु पदार्थ खाए और उसके मन मे राग उत्पन्न न हो ? क्या यह संभव है, कोई आदमी बासी अन्न खाए और उसके मन मे ग्लानि या द्वेष उत्पन्न न हो ? साधारण आदमी के लिए यह सभव नही है। यह असभव नहीं है किन्तु सभव उसी के लिए है जिसने ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए प्रयत्न किया है।

जिस व्यक्ति के मन मे इन्द्रिय-विपयो के प्रति आकर्पण है, वह उन्हें प्राप्त कर राग या द्वेप से मुक्त नही रह सकता। जिसके आकर्पण का प्रवाह वदल जाता है, विपयो के प्रति उसका आकर्पण समाप्त हो जाता है। यह वह स्थिति है जिसके लिए मनुष्य साधना के पथ पर चलता है।

इन्द्रियो के साथ वृत्तियो का सम्वन्ध नही होता तव तक इन्द्रिय और विपय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्वन्ध होता है। पानी अपने आप मे स्वच्छ है। उसमे गन्दगी आ मिलती है तव वह मैला हो जाता है। इन्द्रिय और मन भी अपने आप मे स्वच्छ है। उनमे वृत्तियों की गन्दगी आ जाती है तव वे मलिन वन जाते है। हम तव तक इन्द्रिय और मन की गन्दगी का शोधन या समापन नही कर सकते, जव तक वृत्तियो का शोधन या समापन

नही कर लेते।

हमारी इन्द्रियां चंचल क्यो हैं ? मन चंचल है इसलिए इन्द्रियां चंचल है। प्रश्न होगा—मन चचल क्यों है ? हमारी वृत्तिया चंचल हैं इसलिए मन चचल है। चंचलता के हेतु इन्द्रिया और मन नही हैं, वे तो चचलता का भोग करती हैं। चंचलता के मूल हेतु वृत्तिया है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन की निर्मलता और उनकी चचलता के समापन का इच्छुक है उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह वृत्तियो के संशोधन का प्रयत्न करे।

वृत्तियां क्या है और उनके सशोधन की प्रक्रिया क्या है ? मनुष्य के जीवन-परिचालन मे जिसका सक्रिय योग होता है, उसे वृत्ति कहा जाता है। वर्तमान की क्रिया अतीत मे वृत्ति का रूप ले लेती है। मनुष्य मे—

१. बुभुक्षा—खाने की इच्छा होती है।

२. शरीर-धारण की इच्छा होती है।

३ ऐन्द्रियिक आसक्ति होती है।

४. श्वास लेने का संस्कार होता है।

५. बोलने की इच्छा होती है।

६. चितन का संस्कार होता है।

ये जीवन-धारण की मौलिक वृत्तिया है। वृत्ति के पोषक तत्त्व दो है—राग और द्वेष। रागात्मक भावना के द्वारा मनुष्य प्रियता या अनुकूलता की अनुभूति करता है और द्वेषात्मक भावना के द्वारा मनुष्य अप्रियता या प्रतिकूलता की अनुभूति करता है। रागात्मक भाव माया और लोभ के रूप मे प्रकट होता है। द्वेषात्मक भाव क्रोध और अभिमान के रूप में प्रकट होता है। ये वृत्तियो को अपने रग मे रग देते हैं इसलिए इन्हे कषाय कहा गया है। इन भावो को पुष्टि देने वाले कुछ सहायक भाव है। जैसे : हास्य, रति-अरति, भय, शोक, घृणा, काम-वासना।

इन काषायिक भावों के द्वारा मनुष्य में अज्ञान, संशय, विपर्यय, मोह, आवरण आदि घटित होते है। महर्षि पतंजलि ने प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति को वृत्ति माना है।

वृत्तियों का शोधन तपोयोग से होता है। पानी, हवा और धूप के अभाव मे अकुरित बीज भी मुरझा जाता है। इसी प्रकार पोषक सामग्री

के अभाव मे अर्जित संस्कार निर्वीर्य बन जाते है। गन्दा जल शोधक द्रव्यो के प्रयोग से स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार तपोयोग के द्वारा वृत्तियों के दोष विलीन हो जाते है। इस शोधन की प्रक्रिया पर अग्रिम पृष्ठो में प्रकाश डाला जाएगा।

४. **आत्ममात्रापेक्षं अतीन्द्रियम्** ॥
५. **चेतनावद् द्रव्यं आत्मा** ॥
६. **ज्ञानदर्शन सहजानन्द सत्यवीर्याणि तत्स्वरूपम्** ॥
७. **परमाणुसमुदयैस्तदावरणविकरणे** ॥
८. **तत्संसर्गाऽसंसर्गाभ्यां आत्मा द्विविधः** ॥
९. **बद्धो मुक्तश्च** ॥
१०. **स्वरूपोपलब्धिर्मुक्तिः** ॥

४. पौद्गलिक साधनो की अपेक्षा रखे बिना केवल आत्मा के द्वारा जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है।
५. जो द्रव्य चेतनावान होता है, उसे आत्मा कहा जाता है।
६. ज्ञान-दर्शन, सहज आनन्द, सत्य (पूर्ण वीतरागता) और वीर्य—यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।
७. परमाणु स्कन्धों के द्वारा आत्मा का स्वरूप आवृत और विकृत होता है।
८ स्वभाव की दृष्टि से सव आत्माएं समान होती हैं, फिर भी परमाणु समुदायो के योग और वियोग के कारण वे दो प्रकार की होती हैं।
९. परमाणु-समुदायो के योग से युक्त आत्मा वद्ध और उनके योग से वियुक्त आत्मा मुक्त कहलाती है।
१०. स्वरूप की उपलव्धि होती है, आवृत-स्वरूप अनावृत होता है, वही मुक्ति है।

अतीन्द्रिय ज्ञान और आत्मा

चेतना के तीन स्तर है—ऐन्द्रियिक, मानसिक और अतीन्द्रिय। चेतना का आवरण सवन होता है तव उसके ऐन्द्रियिक स्तर का विकास होता है।

उसका आवरण पतला हो जाता है तव मानसिक स्तर का विकास होता है। जव वह वहुत क्षीण या पूर्णत. विलीन हो जाता है तव अतीन्द्रिय स्तर का विकास होता है। हम लोग इन्द्रिय और मन के स्तर पर ज्ञान कर रहे हैं इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाते। इन्द्रिय स्तर पर काम करने वाला क्या मानसिक स्तर की कल्पना कर सकता है ? हम उत्तरवर्ती विकास की कल्पना नही कर सकते, उसका हेतु हमारी अपूर्णता है। हम अपनी पूर्णता का अनुभव कर अतीन्द्रिय स्तर की परिकल्पना से दूर नही रह सकते।

चेतना के पहले दो स्तर परोक्ष होते है। उसका तीसरा स्तर प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान वस्तुतः परोक्ष नही होता किन्तु उसकी पद्धति परोक्ष भी वन जाती है। ऐन्द्रियक स्तर पर हम ज्ञेय को इन्द्रियों के माध्यम से जानते है, साक्षात् नही जानते इसलिए हमारा वह ज्ञान परोक्ष होता है। कल्पना, चितन और मनन मे कल्पनीय, चिन्तनीय और मननीय वस्तु का साक्षात् सम्पर्क नही होता इसलिए मानसिक स्तर का ज्ञान भी परोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है, जहां ज्ञाता ज्ञेय को साक्षात् जानता है—शारीरिक या पौद्‌गलिक उपकरणो की सहायता लिये विना जानता है।

साधना का उद्देश्य है—परोक्षानुभूति की भूमिका को पार कर प्रत्यक्षानुभूति की भूमिका मे प्रवेश करना, चेतना के आवरण को विलीन कर उसे अनावृत करना। चेतना का अनावरण होने पर हमारी साधना सफल हो जाती है।

परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान की भेदरेखा तीन विन्दुओं से वनी है। परोक्ष ज्ञान का विपय है स्थूल, अव्यवहित और निकटवर्ती वस्तु। प्रत्यक्ष का विपय है स्थूल या सूक्ष्म, व्यवहित या अव्यवहित, दूर या निकटवर्ती वस्तु। परोक्ष ज्ञान मनन और शास्त्र (शव्दज्ञान) के माध्यम से होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकार है—अवधिज्ञान, मन.पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। चेतना की पूर्ण अनावृत दशा का नाम केवलज्ञान है। उसके द्वारा भौतिक और अभौतिक, मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के ज्ञेय जाने जाते है। अवधि और मन.पर्याय के द्वारा केवल भौतिक और मूर्त द्रव्य ही जाने जाते है। अवधिज्ञान से हम भीत से परे की वस्तु जान सकते हैं। किन्तु अभौतिक ज्ञेय को नही जान सकते। मन पर्याय ज्ञान के द्वारा हम चिंतन मे प्रयुक्त

पौद्‌गलिक तत्त्वो को जान सकते है किन्तु चेतना की अभौतिक सत्ता को नहीं जान सकते।

साधना के द्वारा हम स्थूल जगत् से सम्बन्ध विच्छिन्न कर सूक्ष्म जगत् से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। जैसे-जैसे हमारे मन का विक्षेप, विकार और आवरण विलीन होता है, वैसे-वैसे सूक्ष्म पर आया हुआ आवरण दूर हटता चला जाता है।

हमारी निरावरण अवस्था ही आत्मा का स्वरूप है। यही हमारी मुक्ति है। आत्मा और मुक्ति का स्वरूप एक है। जो आत्मा है वही मुक्ति है और जो अनात्मा है वही बन्धन है। हम जब तक बन्धन की स्थिति में रहते है, तब तक हमे अपना स्वरूप उपलब्ध नही होता। जैसे-जैसे हम बन्धन को काटते चले जाते है, वैसे-वैसे ही हमारी मुक्ति होती जाती है। मुक्ति केवल अतिम क्षण में ही नही होती किन्तु उसका एक क्रम होता है। उसके अनुसार साधना के हर क्षण मे मुक्ति होती है। साधना जैसे ही चरम बिन्दु पर पहुचती है, वैसे ही मुक्ति का परिपूर्ण रूप प्रकट हो जाता है।

आत्मा एक द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त धर्मात्मक होता है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या उन धर्मो के आधार पर की जा सकती है जो धर्म परमाणु समुदाय से प्रभावित होते है। कुछ परमाणु आत्मा के ज्ञान, दर्शन को आवृत करते है। कुछ परमाणु आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। कुछ परमाणु आत्मा के वीर्य का प्रतिघात या अवरोध करते हैं। कुछ परमाणु पारमाणविक सयोग या प्राप्ति के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आवरण, विकार, प्रतिघात और प्राप्ति—इन चार रूपो मे परमाणु आत्मा को प्रभावित करते हैं। यह प्रभावित अवस्था ही वन्धन है। इस प्रभाव से छूटना ही मुक्ति है और वही आत्मा का स्वरूप है। निरावरण दशा आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है ज्ञान और दर्शन का पूर्णरूपेण प्रकट हो जाना। वीतरागता आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है विकार से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना। शक्ति आत्मा का स्वरूप है। परमाणुओ से असंवद्ध होना आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप की उपलब्धि ही साधना का प्रयोजन है। वन्धन-मुक्ति से वढकर साधना का और प्रयोजन हो ही क्या सकता है ?

११. मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः ॥

१२. संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्त इति पर्यायाः ॥

१३. शोधनं च ॥

१४. समितिः सत्प्रवृत्तिर्विशुद्धि इति पर्यायाः ॥

१५. पूर्व शोधनं ततो निरोधः ॥

१६. हित-मित-सात्त्विकाहरणं आहारशुद्धिः ॥

१७. स्वविषयान् प्रति सम्यग्योग इन्द्रियशुद्धिः ॥

१८. प्रतिसंलीनता च ॥

१९. प्राणायाम-समदीर्घश्वास-कायोत्सर्गे आनापानशुद्धिः ॥

२०. कायोत्सर्गाद्यासन-वन्ध-व्यायाम-प्राणायामैः कायशुद्धिः ॥

२१. निस्संगत्वेन च ॥

२२ प्रलम्वनादाभ्यासेन वाक्शुद्धिः ॥

२३. सत्यपरत्वेन च ॥

२४. दृढ़संकल्पैकाग्रसन्निवेशनाभ्यां मनःशुद्धिः ॥

११. वन्धन-मुक्ति के लिए मन, वाणी, काय, आनापान, इन्द्रिय और आहार के निरोध को योग कहा जाता है।

१२ सवर, गुप्ति, निरोध और निवृत्ति—ये उनके पर्यायवाची नाम हैं।

१३. मन, वाणी, काय, आनापान, इन्द्रिय और आहार की शुद्धि को भी योग कहा जाता है।

१४. समिति, सत्प्रवृत्ति और विशुद्धि—ये उनके पर्यायवाची नाम हैं।

१५. पहले मन आदि का शोधन होता है, फिर निरोध।

१६ हितकर भोजन करना, मितभोजन करना—ठूंस-ठूंसकर न खाना, मित द्रव्य खाना—वहुत वस्तुए एक साथ न खाना, मित समय मे खाना—समूचे दिन खाते ही न रहना, मिर्च-मसाले आदि उत्तेजक वस्तुएं न खाना—ये आहारशुद्धि के उपाय हैं।

१७. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का अपने-अपने विषयों (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द) के प्रति जो सम्यग् योग होता है— निर्विकार और शान्तप्रवृत्ति होती है, वह इन्द्रिय-शुद्धि

का उपाय है।

१८. प्रतिसंलीनता भी इन्द्रिय-शुद्धि का उपाय है।

१६. प्राणायाम, समतालश्वास, दीर्घश्वास और कार्योत्सर्ग के द्वारा श्वासोच्छ्वास की शुद्धि होती है।

२०. कायोत्सर्ग आदि आसनो, मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, व्यायाम और प्राणायाम के द्वारा काय की शुद्धि होती है।

२१. निर्लेपता के द्वारा भी काय की शुद्धि होती है।

२२. ऊं, अर्ह आदि शब्दों के लम्बे उच्चारण से वाणी की शुद्धि होती है।

२३. सत्यपरकता से भी वाणी की शुद्धि होती है।

२४. दृढ सकल्प करने व एक लक्ष्य पर स्थिर होने से मन की शुद्धि होती है।

योग

प्रश्न—क्या जैन साहित्य में 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है ?

उत्तर—जैन साहित्य में 'योग' शब्द का व्यवहार अनेक रूपो मे हुआ है—अध्यात्मयोग, भावनायोग, सवरयोग, ध्यानयोग आदि। सूत्रकृताग जैसे प्राचीन सूत्र मे 'योग' शव्द का व्यवहार हुआ है। जैन तत्त्वविद्या मे मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। उसका प्रयोग बहुत प्रचलित है, इसलिए साधना के अर्थ मे सवर या प्रतिमा का प्रयोग अधिक प्रचलित है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत (पर्याप्तिया) और दस शक्ति-केन्द (प्राण) है।

१. आहार पर्याप्ति

२ शरीर पर्याप्ति

३. इन्द्रिय पर्याप्ति

४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति

५. भापा पर्याप्ति

६. मन-पर्याप्ति

दस शक्ति-केन्द्र–

१. श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	६. मनोबल
२. चक्षुःइन्द्रिय प्राण	७. वचन-वल
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८. काय-बल
४. रसनेन्द्रिय प्राण	९. श्वासोच्छ्वास प्राण
५. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१०. आयुष्य प्राण।

इनमें परस्पर कार्य-कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति-स्रोत कारण है और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। संख्या-विस्तार को संक्षेप में लाने पर दोनो की संख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति-केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायवल
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास प्राण
भापा पर्याप्ति	वचनबल
मनःपर्याप्ति	मनोवल

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था में होते हैं और न अचेतन में होते है, ये चेतन और अचेतन के संयोग में उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे सव चेतन और अचेतन (पुद्गल) के संयोग की अवस्था में हैं। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नहीं हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही हैं। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न है, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका में भी नही है। हम चेतन्य और अचैतन्य की संयुक्त भूमिका में है।

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्त्व के वीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) है। जिनमे आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव है और जिनमें ये शक्तियां नहीं हैं, वे निर्जीव है।

भाषा-शक्ति व चिंतन-शक्ति जीव के लक्षण नही है किन्तु वे विकास के अग्रिम सोपान है।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरभ-काल मे ही निष्पन्न हो जाते है। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है ? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य है, ऐसा प्रतीत नही होता।,जीवन जब प्रवुद्ध होता है तब उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन है : शोधन और निरोध। विस्तार मे इनके बारह प्रकार हो जाते है—

१. आहार शुद्धि	७ श्वासोच्छ्वास शुद्धि
२. आहार निरोध	८. श्वासोच्छ्वास निरोध
३. शरीर शुद्धि	६. वाक् शुद्धि
४ शरीर निरोध	१०. वाक् निरोध
५. इन्द्रिय शुद्धि	११ मन शुद्धि
६. इन्द्रिय निरोध	१२. मन निरोध

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जब अपने चरम विन्दु पर पहुच जाती है तब निरोध की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है।

योग का विशिष्ट अग निरोध है। जब तक मन आदि का निरोध नही होता, तब तक शोधन का क्रम विकासशील नही बनता। निरोध की अपेक्षा शोधन सरल है, इसलिए वह सहजतया हो जाता है किन्तु उसकी पूर्णता निरोध से जुडने पर ही होती है। मानवीय चर्या के तीन अग है—असत् प्रवृति, सत् प्रवृत्ति और निवृत्ति। साधना का क्रम-प्राप्त मार्ग यह है कि हम पहले असत् प्रवृत्ति से हटकर सत्प्रवृत्ति की भूमिका मे आए और फिर निवृत्ति की भूमिका को प्राप्त करे।

प्रश्न—क्या इन्द्रिय की शक्ति का विकास किया जा सकता है ?

उत्तर—इन्द्रियो की शक्ति का विकास किया जा सकता है। यद्यपि तर्कशास्त्री मानते है कि इन्द्रिय का अपने विपय मे ही विकास हो सकता है, जैसे : आख रूप को देखने मे वहुत पटु वन सकती है किन्तु वह अपने विपय का अतिक्रमण नही कर सकती अर्थात् शव्द को नही सुन सकती। योग के क्षेत्र मे यह तर्कशास्त्रीय नियम सम्मत नही है। उसके अनुसार इन्द्रियो का विकास अपने विपय की सीमा मे तथा उससे आगे भी किया जा सकता है। इन्द्रियो की इस विकसित शक्ति को सभिन्नस्रोतोपलव्धि कहा जाता है। जो व्यक्ति इस लव्धि (योगज विभूति)

को प्राप्त कर लेता है, वह किसी एक इन्द्रिय से पांचो इन्द्रियों का काम ले सकता है। उदाहरण के रूप में वह स्पर्शन इन्द्रिय से सुन सकता है, देख सकता है, सूंघ सकता है और चख सकता है।

आहार-शुद्धि के उपाय

१. हिताहार
२. मिताहार
३. सात्त्विकाहार।

हिताहार—जो आहार सम धातुओं को प्रकृति में स्थापित करता है और विषम धातुओं को सम करता है, उसका नाम हिताहार है। प्रकृति के अनुकूल भोजन करना, विरुद्ध वस्तुएं न खाना, विकृत वस्तुएं न खाना आदि-आदि।

हिताहार की कसौटिया निम्न हैं—
१. शरीर की शक्ति-क्षय का निवारण
२. शरीर की वृद्धि
३. शरीर को उचित ताप-प्रदान
४. बलकारक
५ शीघ्र पाचन
६ अनुत्तेजक
७. स्मृति, आयु, वर्ण, ओज, सत्त्व एव शोभा की वृद्धि।

मिताहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना कठिन है। जितना खाने पर एक घंटा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने से पेट फटता न हो, वह मितभोजन है।

सात्त्विकाहार—मादक व उत्तेजक वस्तुओं का वर्जन, शरीर-इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाघव में बाधा न पड़े, वैसा भोजन।

इन्द्रिय-शुद्धि के उपाय

१. इन्द्रियों का सम्यग् योग
२. प्रतिसंलीनता।
३. इन्द्रियों की प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं—अयोग, अतियोग और योग।

इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते हैं। इन्द्रियों की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन है। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती हैं, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नही कि आंखें हों और वे रूप या वर्ण को न देखें। यह शक्य नहीं कि कान हो और वे शब्द न सुनें। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे इसकी अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियों के योग का सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य से है जबकि उसके सम्यग् योग का सम्बन्ध हमारी साधना से है। साधक को आंख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है पर उसके साथ कल्पनाओं का योग नहीं करता। स्पर्शन और विकार एक नहीं है। इन्द्रियो के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित होकर राग-द्वेष से जुड़ जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है वर्तमान मे प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओ को न जोडना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द को सुनना, केवल गन्ध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय-शुद्धि की प्रथम भूमि में विषय और इन्द्रियो के सम्बन्ध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका मे विपयों से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आंख बन्द कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का सम्वन्ध-विच्छेद है। कान बन्द कर लेना—यह शव्द के साथ श्रोत्र का सम्वन्ध-विच्छेद है। नाक को वन्द कर लेना—यह गध के साथ घ्राण का सम्वन्ध-विच्छेद है। आहार नही करना—यह रस के साथ रसना का सम्वन्ध-विच्छेद है। स्पर्श नहीं करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का सम्वन्ध-विच्छेद है। इन्द्रियों का वहिर्जगत् मे प्रयोग न करना, उन्हे अपने-अपने क्षेत्रों मे ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियो की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमे अन्तर्लीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसंलीनता है। यह आकर्पण के विकर्पण का सिद्धान्त है। अन्तर्

के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर् के प्रति आकर्षण बढ़ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाएं है—बाह्य और अन्तरग। इन्द्रियो की शक्ति अन्तरंग आकर्षण की ओर मुड जाए तो अन्तरंग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनो भूमिकाओ का तुलनात्मक रूप निम्न यत्र से स्पष्ट हो जाएगा—

बाह्याकर्षण	अन्तर्-आकर्षण
बाह्य ध्वनि	अन्तर्-ध्वनि
बाह्य दर्शन	अन्तर्-दर्शन
बाह्य गध	अन्तर्-गध
बाह्य रस	अन्तर्-रस
बाह्य स्पर्श	अन्तर्-स्पर्श

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अगंध, अरस और अस्पर्श है।

हम अन्तर्-ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका मे नही पहुंच पाते है। इस प्रयत्न मे हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुंच पाते है। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श का सम्बन्ध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते हैं।

आनापानशुद्धि के उपाय

१ प्राणायाम

२. समतालश्वास

३ दीर्घश्वास

४ कायोत्सर्ग।

प्राणायाम—प्राणवायु के विस्तार को प्राणायाम कहा जाता है। उसके तीन अग है—

१. पूरक

२. रेचक

३. कुंभक।

जब प्राणवायु को नथुनों द्वारा खींचकर नाभि तक ले जाते है, वह

पूरक है। प्राण को नाभि से उठाकर नथुनों द्वारा बाहर ले जाते है, वह रेचक है। जिस अवस्था में प्राणवायु का ग्रहण और विसर्जन नहीं करते, वह कुम्भक है। यह श्वास को रोकने की अवस्था है। श्वास को भीतर ले जाकर रोकते हैं, उसे अन्तःकुम्भक कहा जाता है। उसे बाहर ले जाकर रोकते हैं उसका नाम बहिःकुम्भक है।

प्राण हमारी नाड़ियों से प्रवाहित होता है। वह कभी बायें नथुने से प्रवाहित होता है। उस मार्ग को इडा नाडी या चन्द्रस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दायें नथुने से प्रवाहित होता है, उस मार्ग को पिंगला नाडी या सूर्यस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दोनो नाड़ियो के बीच में प्रवाहित होता है, उस मार्ग का नाम सुषुम्ना नाडी है। चन्द्रस्वर शीत और सूर्यस्वर उष्ण होता है। सुषुम्ना में सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम से सुषुम्नास्वर चलने लग जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार है। किन्तु वायु-शुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम-विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम—दायें हाथ के अगूठे से दाये नथुने को बन्द कर बायें नथुने से श्वास लें और दाये नथुने से उसका रेचन करें। दाये हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाये नथुने को बन्द कर दाये नथुने से श्वास लें और बायें नथुने से उसका रेचन करे। प्रारम्भ में ऐसी आठ-दस आवृत्तियां की जा सकती है, फिर धीमे-धीमे तीस तक बढाई जा सकती है।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है—

पूरक	आठ मात्रा
रेचक	सोलह मात्रा
कुम्भक	वत्तीस मात्रा

सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की इस द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का कालमान ऊपर वताया गया है।

समूलवन्ध अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ मूलवन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम-विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया मे कुम्भक और

मूलवन्ध सहित अनुलोम-विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयान वन्ध और जुड़ जाता है।

श्वास के दोष विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते है और वे मन को चचल वनाते है। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितांत आवश्यक है। साधना की भाषा मे जैसा कि मै समझ पाया हूं श्वास और मन का गहरा सम्वन्ध है। श्वास की चंचलता मन की चचलता को जन्म देती है और मन की चचलता फिर श्वास को चंचल वनाती है। इस क्रम में स्थिरता कम होती चली जाती है। अतः मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि वहुत आवश्यक है।

प्राणायाम का क्रमिक विकास—प्रारम्भ में प्राणायाम के दो अगो—पूरक और रेचक का ही अभ्यास करना चाहिए। सोमदेव सूरि ने लिखा है—

मन्दं मन्दं क्षिपेद् वायुं, मन्दं मन्द विनिक्षिपेत्।
न क्वचिद् वार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते॥
(यशस्तिलक, ३६)

प्राणवायु को धीमे-धीमे लेना चाहिए और धीमे-धीमे छोडना चाहिए। वायु को न रोका जाए और न शीघ्रता से छोड़ा जाए। प्रारम्भ मे प्राण का रोकने का अभ्यास होता है, इसलिए उसे रोक लेने पर शीघ्रता से छोड़ने की स्थिति पैदा हो जाती है। वैसा करने मे हानि होती है।

प्रारम्भ मे दीर्घ श्वास का अभ्यास, फिर पूरक और रेचक का अभ्यास और फिर कुम्भक का अभ्यास—यह प्राणायाम का विकासक्रम है। हठयोग में प्राणायाम के अनेक प्रकार वतलाये गए है। शारीरिक सिद्धियो के लिए उनका उपयोग भी हो सकता है किन्तु ध्यान की सिद्धि के लिए उनका उपयोग हमारे अनुभव मे नही है। ध्यान की सिद्धि के लिए उसी प्राणायाम का उपयोग होता है, जिससे प्राण सूक्ष्म वन सके। नाभि, नासाग्र, भृकुटि और मस्तिष्क मे मन को केन्द्रित करने से प्राण सूक्ष्म हो जाता है। कुम्भक [illegible] मे तो वह सूक्ष्म होता ही है।

रेचक और पूरक का सम्यक् अभ्यास हो जाने के बाद पाच-दस सेकण्ड का कुम्भक किया जाए और वह भी चार-पांच वार। फिर धीमे-धीमे समय और वार दोनों बढ़ाए जा सकते है।

[illegible] मन को स्थिर करने की सामान्य अपेक्षा हो, वह दो-तीन मिनट

का कुम्भक दिन-रात में दो-चार बार कर ले और जिसे विशेष साधना करनी हो, वह घंटों तक कुम्भक का अभ्यास कर सकता है।

कुम्भक जितना शक्तिस्रोत है, उतना ही भयंकर है। कुम्भक की विशेष साधना किसी अनुभवी साधक की देख-रेख में ही की जा सकती है। उसमें खाने, चलने, बोलने की चर्या में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ता है।

प्राणायाम के व्यावहारिक लाभ—पूरक से पुष्टि प्राप्त होती है। रेचक से उदर की व्याधियां क्षीण होतीं हैं। कुम्भक में आन्तरिक शक्तियां जाग्रत होती हैं। चन्द्रस्वर से गर्मी शान्त होती है और सूर्यस्वर से गर्मी बढती है। वायु तथा कफ के प्रकोप मिटते है। जो स्वर चल रहा हो, उसे रोककर विपरीत स्वर चलाने से तात्कालिक उपद्रव शान्त होते हैं। दूषित प्राण-वायु से जीवन की हानि होती है और शुद्ध प्राणवायु से जीवनी-शक्ति का विकास होता है।

इन्द्रियविजय, मनोविजय, कषायविजय—इन शब्दों से हम सुपरिचित हैं किन्तु प्राणविजय शब्द से हम सुपरिचित नही हैं। जैन लोगों में एक साधारण धारणा है कि प्राणायाम हमारी परम्परा मे मान्य नहीं है, महर्षि पतंजलि तथा हठयोग की परम्परा में मान्य रहा है। यह धारणा समुचित नही है।

आवश्यक निर्युक्ति मे श्वास का निरोध न किया जाए ऐसा उल्लेख मिलता है। किन्तु यह निषेध किसी विशेष स्थिति मे किया गया प्रतीत होता है। भद्रबाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उसकी आधार-भित्ति प्राणायाम है। अन्य अनेक आचार्यो ने ध्यान सवरयोग की साधना की है। उसमे भी प्राणायाम प्रमुख होता है। महाप्राण साधना या ध्यान योग की साधना में वारह-वारह वर्ष लग जाते थे। इस साधना मे लगने वाले सघीय कार्य करने से विरत हो जाते थे तथा किसी प्रमादवश प्राणहानि भी हो जाती थी। संभव है इसी प्रकार के किसी कारण को ध्यान मे रखकर आवश्यक निर्युक्ति में श्वासनिरोध का निपेध किया गया।

वस्तुवृत्या प्राणायाम जैन-परम्परा से असम्मत नही है। प्राणायाम के विना प्राण-विजय नहीं हो सकती और उसके विना इन्द्रिय-विजय,

मनोविजय और कषायविजय का होना साधारणतया संभव नहीं है। ध्यान की प्रत्येक पद्धति के साथ श्वास को सूक्ष्म या मन्द करने का विधान मिलता है।

सूक्ष्म प्राणायाम का अभ्यास अनेक विधियों से किया जा सकता है—

१. सर्वप्रथम दीर्घ-श्वास का अभ्यास करे। धीमे-धीमे श्वास को भीतर गहरे मे ले जाएं और धीमे-धीमे उसका रेचन करें। इस क्रिया से नाभि के आस-पास तक प्रकम्पन पैदा हो जाता है। कम से कम इसकी वीस-पचीस आवृत्तियां होनी चाहिए।
२. श्वास पर ध्यान केन्द्रित करने से वह शान्त, मन्द और दीर्घ अपने आप हो जाता है।
३. सामान्यत: हम एक मिनट मे पन्द्रह श्वास और पन्द्रह निःश्वास लेते हैं। दो सेकेण्ड मे एक श्वास या एक निःश्वास होता है। क्रमिक अभ्यास के द्वारा एक मिनट में छह श्वास और छह निःश्वास, फिर तीन श्वास और तीन निःश्वास, फिर दो श्वास और दो निःश्वास तथा एक श्वास और एक निःश्वास एक मिनट में करे। यह सूक्ष्म प्राणायाम है। इससे मन को स्थिर, शान्त करने में बहुत सहयोग मिलता है।

योग की भाषा में प्राण, विन्दु (वीर्य) और मन पर्यायवाची जैसे हैं। प्राण पर विजय पा लेने से विन्दु और मन पर विजय हो जाती है। विन्दु पर विजय पा लेने से प्राण और मन विजित हो जाते हैं। मन पर विजय पा लेने से प्राण और विन्दु सध जाते है। तीनो में से किसी एक की साधना करने पर शेष दो स्वयं सध जाते हैं।

प्राण, विन्दु और मन—इन तीनों मे प्राण का स्थान पहला है। पहला इस अर्थ में है कि प्राण की साधना के विना उन दोनों की साधना सर्व साधारण के लिए कठिन कार्य है।

समताल श्वास—जितनी मात्रा में पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा में दूसरा, तीसरा। इस प्रकार तालवद्धश्वास लेना समताल श्वास है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।

कायोत्सर्ग—कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चंचलता का विसर्जन। इसका विवेचन कायोत्सर्ग के प्रकरण मे किया जायेगा।

कायशुद्धि के उपाय

कायोत्सर्ग, आसन, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निर्लेपता—ये कायशुद्धि के उपाय हैं।

कायशुद्धि के उपर्युक्त आसनो का वर्णन आसन प्रकरण में किया जायेगा।

मूलबन्ध—गुदा को ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहा जाता है। साधना की प्रत्येक अवस्था मे मूलबन्ध करना बहुत आवश्यक है। यह एक प्रकार से साधना का आधारभूत है। इससे मूल नाडी सीधी हो जाती है। मन की एकाग्रता करने के लिए यह बहुत अपेक्षित है।

उड्डीयानबन्ध—श्वास का रेचन कर पेट को सिकोड़ना उड्डीयानबन्ध है। उड्डीयान करते समय छाती का भाग थोडा आगे की ओर उभरा हुआ होना चाहिए। उदर सम्बन्धी दोषो को मिटाने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। इससे अग्नि प्रज्वलित होती हैं। पेट को सिकोडने पर इसका अन्तर्भाग पृष्ठरज्जु से सटकर उस पर दबाव डालता है। उससे तैजस्शक्ति (कुण्डलिनी) और ज्ञानतंतु दोनो प्रदीप्त होते है।

जालन्धरबन्ध—ठुड्डी को कण्ठकूप में स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन की एक मुद्रा मे यह अपने आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि पर उचित दबाव पडता है। आधुनिक शरीर-शास्त्रियो के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर मे रक्त, ताप तथा प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्तियो को नियन्त्रित करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालन्धरबन्ध के द्वारा हम नियत्रण रख सकते है और अनेक उपयोगी रसो का स्राव कर सकते है।

मूलवन्ध लम्वे समय तक तथा चाहे जितनी वार किया जा सकता है। उड्डीयानवन्ध का अभ्यास भोजन करने से पूर्व किया जा सकता है किन्तु प्रारम्भ मे लम्वे समय तक करना उचित नही है। पेट को भीतर की ओर सिकोड़कर आधा मिनट तक रखा जा सकता है। एक सप्ताह के अभ्यास के वाद एक मिनट तक। इस प्रकार प्रति सप्ताह आधा या एक मिनट वढाते-वढाते अपनी शक्ति व सहिष्णुता के अनुसार आधा घटा तक वढाया जा सकता है। इस वन्ध के साथ मूलवन्ध अवश्य होना

चाहिए तथा आंखें खुली नही होनी चाहिए अन्यथा उनकी ज्योति नष्ट होने की संभावना रहती है। जालन्धरबन्ध का समय भी उड्डीयानबन्ध की भांति क्रमश: बढता है। इसे साधारण आदमी को पांच-सात मिनट से ज्यादा नही बढ़ाना चाहिए। कुछ समय के लिए तीनो बन्ध एक साथ किए जा सकते है।

व्यायाम–हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोडना और फैलाना व्यायाम है।

निर्लेपता–विषयो की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते है और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते हैं। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषो से बच जाता है।

वाक्‌शुद्धि के उपाय

१ प्रलम्बनाद का अभ्यास

२ सत्यपरक प्रयोग

वाक् मन परिष्कृत होकर ही प्रकट होती है। मन की सरलता होती है तब वाणी शुद्ध रहती है। मन की कुटिलता होने पर वह अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है वही हो जाता है। वाणी मे यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ॐ, अर्हं, सोऽहम् आदि मंत्राक्षरो का दीर्घ उच्चारण करने से मन वाणी के साथ जुड़ जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वह वायुमण्डल में तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते है और इष्ट परमाणुओं का परिपार्श्व बन जाता है।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारम्भ कर पन्द्रह मिनट तक बढ़ाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढ़ाया जा सकता है। इस अभ्यास में मन को समस्याओं से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है।

मन:शुद्धि के उपाय

दृढ़ संकल्प—हमारे मन में कामनाएं उठती रहती हैं। उन कामनाओ मे कार्यरूप में बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हे सकल्प कहा जाता है। समुद्र मे ऊर्मियों की भांति सकल्प हमारे मन में उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। वे अस्थिर संकल्प होते है। उनसे हमें कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। स्थिर सकल्प कार्य-रूप मे परिवर्तित हुए बिना विलीन नहीं होता। वह दीर्घकाल तक टिका रहता है। उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने से वह रूढ़ हो जाता है। दृढ संकल्प मे कार्य-रूप में परिणत होने की क्षमता होती है। उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते है। बुरे विचारो को छोड़ने व अच्छे विचारो की आदत डालने मे दृढ़ संकल्प हमारी बहुत सहायता करता है।

एकाग्रसन्निवेशन—एकाग्रता मन की विरोधावस्था नही है। यह उसकी किसी एक विषय में निरोधावस्था है। अनेक मार्गो मे जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग में मोड़ देना है। नदी का प्रवाह जब अनेक मार्गो मे बहता है, तब वह क्षीण हो जाता है। एक प्रवाह में जो शक्ति होती है, वह विभक्त प्रवाहो में नही हो सकती। सूर्य की बिखरी रश्मियो मे वह शक्ति नही होती, जो केन्द्रित किरणों में होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरतर बहता है तब उसमें अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षेत्र मे मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन-प्रवाह को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतियां हैं। उनमे से कुछ पद्धतियो को यहां प्रस्तुत किया जाता है—

१. द्रष्टा की स्थिति—मन की चचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहां जैसे जाता है, उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या ज्ञेय मन को ही वना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप मे जागरूक रहकर आप मन का-अध्ययन ही नही कर पाएगे, किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगे।

२. विकल्पों की उपेक्षा—आपके मन मे जो विकल्प उठते है, उनकी उपेक्षा कीजिए। जो प्रश्न उठते है, उनके उत्तर मत दीजिए। जैसे प्रश्न करने वाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है, वैसे ही मन भी उपेक्षा पाकर (प्रश्नो का उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३. अप्रयत्न—मन को स्थिर करने का वलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास को मन्द कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मन्द होगा, वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा।

४. श्वास-योग—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास मे लीन हो जाएगा।

५. आकृति-आलम्वन—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्र वनाइए। पहले देश-काल और वाह्य वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए, फिर उसे मानसिक चित्र मे वदल दीजिए। वह चित्र वहुत स्पष्ट और प्राणवान जैसा कीजिए।

यदि प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियों पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्र वनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६. शव्द-आलम्वन—इष्ट मंत्रों में मन को लगाइए। मन का प्रवाह शव्द की दिशा में प्रवाहित होकर अन्य विकल्पों से शून्य हो जाता है। जप की प्रक्रिया मे इसे विस्तार से वताया जाएगा।

७. दृढ़ इच्छा-शक्ति—इच्छा-शक्ति भावो से उत्पन्न होती है। भावों की प्रवलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावो को इच्छा-शक्ति के रूप मे वदलने का साधन है-स्वतः सूचना (Auto Suggestion)। मन को सूचना देने से भावो मे उत्तेजना आरम्भ होती है और वही इच्छा-शक्ति के रूप मे परिणत हो जाती है। इच्छा-शक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ़ हो जाती है। दृढ़ इच्छा-शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

२५. मिथ्यादृष्टिरविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धाकर्षणहेतवः॥
२६. सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतवः।

२५. मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी तथा शरीर की प्रवृत्ति) के द्वारा आत्मा के साथ परमाणु-स्कन्धो का संयोग होता है।

२६. सम्यग्दृष्टि, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग (मन, वाणी

तथा शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध) से आत्मा के साथ परमाणु-स्कन्धों का योग रुक जाता है।

बन्ध और मुक्ति के हेतु

बन्ध और मुक्ति की मीमांसा बहुत विस्तार से की गई है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत विस्तार से कही गई बात स्मृति मे नही रहती। तब उसका संक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप में बन्ध का हेतु एक है और मोक्ष का हेतु भी एक ही है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः सर्वमन्यत् प्रपंचनम्॥

आस्रव बन्ध का हेतु और संवर मोक्ष का हेतु। जैन-धर्म का मौलिक प्रतिपाद्य इतना ही है। शेष सब उसका विस्तार है।

योग-साधना के द्वारा हम मुक्ति का अनुभव करना चाहते है, किन्तु आस्रव के द्वारा बन्ध प्रवाहित होता रहता है, इसलिए हम मुक्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

मिथ्यात्व से हमारे दृष्टिकोण मे विपर्यय छा जाता है, इसलिए हम मुक्त भाव से सत्य का साक्षात् अनुभव नही कर पाते।

अव्रत के द्वारा हमारा मन आकाक्षाओ से भरा रहता है, इसलिए हम सहज स्वभाव की अनुभूति नहीं कर पाते।

प्रमाद के द्वारा आत्म-दर्शन के प्रति अलसता उत्पन्न हो जाती है, फलत. हम अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिए जागरूक नही रह पाते।

कषाय के द्वारा हमारी आत्मा सतप्त रहती है इसलिए हम सहज शान्ति का अनुभव नही कर पाते।

प्रवृत्ति के द्वारा हमारी सहज स्थिरता समाप्त हो जाती है, इसलिए हम आत्म-उपलब्धि के लिए केन्द्रित नही हो पाते।

इस प्रकार आस्रव के द्वारा हमारी चेतना वंधी हुई रहती है। जीवन-पथ की दीर्घ यात्रा मे काल-विपाक के कारण कोई क्षण ऐसा आता है कि आत्मा मे मुक्ति की भावना जाग उठती है। उसकी पूर्ति के लिए योगसाधना का सहारा लिया जाता है। उसका मुख्य हेतु संवर है, ठीक

आस्रव का प्रतिपक्ष। आस्रव के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते हैं और संवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति में प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे ही हमें देह और आत्मा का भेदज्ञान होता है, वैसे ही हमारा मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हमें आत्म-स्वभाव की अनुभूति होती है, हमारी आकांक्षाओं का स्रोत रुक जाता है। जैसे ही हम आत्म-उपलब्धि के प्रति जागरूक होते हैं, हमारा बाह्य जगत् के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हम सहज शान्ति के अनुभव में लीन होते हैं, हमारा मानसिक संताप विलीन हो जाता है। जैसे ही हम स्वानुभूति में निष्पन्द होते हैं, हमारी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

मन, वाणी और कर्म का स्पन्दन होता है, तब हम बाह्य जगत् के सम्पर्क में रहते हैं और जब ये निष्पन्द हो जाते हैं, तब हम अन्तर्जगत् या अपने स्वभाव में चले जाते हैं। इसी प्रकार संताप, आकर्षण, आकांक्षा और मिथ्या दृष्टिकोण हमें बाह्य की ओर उन्मुख करते हैं। सम्यक् दृष्टिकोण, सहज तृप्ति, सहज शान्ति और सहज आनन्द हमें आत्मोन्मुखता की ओर ले जाते हैं। आत्म-विमुखता ही आस्रव है और आत्मोन्मुखता ही संवर है। साधना का अर्थ ही है—आत्मविमुखता से हटकर आत्मोन्मुख होना। यम (महाव्रत), नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि उसी की साधन-सामग्री हैं। ध्यान और समाधि संवर से भिन्न नहीं है। इसीलिए जैन योग में संवर ध्यान-योग का सर्वोपरि महत्त्व है।

२७. इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणिआत्मनो लिंगम् ॥

२७. इन्द्रिय, मन और अतीन्द्रिय ज्ञान (योगी ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान व प्रत्यक्ष ज्ञान) आत्मा को जानने के साधन हैं।

साधना का प्रयोजन

तथा शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध) से आत्मा के साथ परमाणु-स्कन्धों का योग रुक जाता है।

बन्ध और मुक्ति के हेतु

बन्ध और मुक्ति की मीमांसा बहुत विस्तार से की गई है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बहुत विस्तार से कही गई बात स्मृति में नहीं रहती। तब उसका संक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप मे बन्ध का हेतु एक है और मोक्ष का हेतु भी एक ही है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिः सर्वमन्यत् प्रपंचनम्॥

आस्रव बन्ध का हेतु और संवर मोक्ष का हेतु। जैन-धर्म का मौलिक प्रतिपाद्य इतना ही है। शेष सब उसका विस्तार है।

योग-साधना के द्वारा हम मुक्ति का अनुभव करना चाहते हैं, किन्तु आस्रव के द्वारा बन्ध प्रवाहित होता रहता है, इसलिए हम मुक्ति का अनुभव नहीं कर पाते।

मिथ्यात्व से हमारे दृष्टिकोण मे विपर्यय छा जाता है, इसलिए हम मुक्त भाव से सत्य का साक्षात् अनुभव नही कर पाते।

अव्रत के द्वारा हमारा मन आकाक्षाओ से भरा रहता है, इसलिए हम सहज स्वभाव की अनुभूति नही कर पाते।

प्रमाद के द्वारा आत्म-दर्शन के प्रति अलसता उत्पन्न हो जाती है, फलत. हम अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिए जागरूक नहीं रह पाते।

कषाय के द्वारा हमारी आत्मा सतप्त रहती है इसलिए हम सहज शान्ति का अनुभव नही कर पाते।

प्रवृत्ति के द्वारा हमारी सहज स्थिरता समाप्त हो जाती है, इसलिए हम आत्म-उपलब्धि के लिए केन्द्रित नही हो पाते।

इस प्रकार आस्रव के द्वारा हमारी चेतना वधी हुई रहती है। जीवन-पथ की दीर्घ यात्रा में काल-विपाक के कारण कोई क्षण ऐसा आता है कि आत्मा मे मुक्ति की भावना जाग उठती है। उसकी पूर्ति के लिए योगसाधना का सहारा लिया जाता है। उसका मुख्य हेतु सवर है, ठीक

आस्रव का प्रतिपक्ष। आस्रव के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते हैं और संवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति ये प्रवृत्त हो जाते हैं। जैसे ही हमे देह और आत्मा का भेदज्ञान होता है, वैसे ही हमारा मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हमें आत्म-स्वभाव की अनुभूति होती है, हमारी आकांक्षाओं का स्रोत रुक जाता है। जैसे ही हम आत्म-उपलब्धि के प्रति जागरूक होते हैं, हमारा बाह्य जगत् के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हम सहज शान्ति के अनुभव में लीन होते हैं, हमारा मानसिक संताप विलीन हो जाता है। जैसे ही हम स्वानुभूति मे निष्पन्द होते हैं, हमारी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

मन, वाणी और कर्म का स्पन्दन होता है, तब हम बाह्य जगत् के सम्पर्क में रहते हैं और जब ये निष्पन्द हो जाते हैं, तब हम अन्तर्जगत् या अपने स्वभाव में चले जाते हैं। इसी प्रकार संताप, आकर्षण, आकांक्षा और मिथ्या दृष्टिकोण हमें बाह्य की ओर उन्मुख करते है। सम्यक् दृष्टिकोण, सहज तृप्ति, सहज शान्ति और सहज आनन्द हमें आत्मोन्मुखता की ओर ले जाते हैं। आत्म-विमुखता ही आस्रव है और आत्मोन्मुखता ही संवर है। साधना का अर्थ ही है—आत्मविमुखता से हटकर आत्मोन्मुख होना। यम (महाव्रत), नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि उसी की साधन-सामग्री है। ध्यान और समाधि सवर से भिन्न नही है। इसीलिए जैन योग में सवर ध्यान-योग का सर्वोपरि महत्त्व है।

२७. इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणिआत्मनो लिंगम् ॥

२७. इन्द्रिय, मन और अतीन्द्रिय ज्ञान (योगी ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान व प्रत्यक्ष ज्ञान) आत्मा को जानने के साधन है।

साधना का प्रयोजन

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का मन स्वस्थ रहता है। मन स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि इन्द्रियां निर्मल रहती हैं। बुद्धि भी

निर्मल रहती है। इस प्रकार स्वास्थ्य और निर्मलता—ये दोनों साधना के परिणाम हैं। ये परिणाम हैं किन्तु मूलभूत प्रयोजन नहीं हैं। साधना का मूलभूत प्रयोजन है—सत्य का साक्षात्कार।

सत्य असीम है। हमारे इन्द्रिय, मन और बुद्धि की शक्ति सीमित है। हम ससीम साधनों के द्वारा असीम का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

इन्द्रिय, मन और बुद्धि के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी चैतन्य शक्ति असीम है। उसे अनावृत कर हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। ध्यान का स्थिर अभ्यास किए बिना हम आत्मा की चैतन्य शक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं कर सकते। इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्थूल जगत् या स्थूल सत्य से होता है। उनमें सूक्ष्म सत्य तक पहुंचने की क्षमता नहीं है। ध्यान के द्वारा हम चेतना के सूक्ष्म स्तर तक चले जाते हैं। सूक्ष्म चैतन्य के द्वारा सूक्ष्म सत्य प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास साधना का मुख्य प्रयोजन है।

अतीन्द्रिय ज्ञान व आत्म-साक्षात्कार में कोई भेद नहीं है। इसे आत्मोदय भी कहा जा सकता है।

दूसरा प्रकरण

१. मूढ़-विक्षिप्त-यातायात-श्लिष्ट-सुलीन-निरुद्धभेदाद् मनः षोढा।
२. दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्तं मूढम् ॥
३. अनर्हमेतद् योगाय ॥
४. इतस्ततो विचरणशीलं विक्षिप्तम् ॥
५. कदाचिदन्तः कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम् ॥
६. प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ॥
७. विकल्पपूर्वकं बाह्यवस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्य अल्पानन्दञ्च ॥
८. स्थिरं श्लिष्टम् ॥
९. सुस्थिरं सुलीनम् ॥
१०. द्वयमिदं संजाताभ्यासस्य योगिनः ॥
११. बाह्यवस्तुनः अग्रहणाद् दृढस्थैर्य महानन्दञ्च ॥
१२. मनोगतध्येयमेवास्य विषयः ॥
१३. निरालम्वनं केवलमात्मपरिणतं निरुद्धम् ॥
१४. इदं वीतरागस्य ॥
१५. सहजानन्दप्रादुर्भावः ॥

१ मन छह प्रकार का होता है—

१. मूढ	४. श्लिष्ट
२. विक्षिप्त	५. सुलीन
३. यातायात	६. निरुद्ध

२ जो मन दृष्टिमोह (मिथ्यादृष्टि) तथा चरित्रमोह (मिथ्या आचार) से परिव्याप्त होता है, उसे मूढ कहा जाता है।

३. मूढ संज्ञावाला मन योग-साधना के योग्य नहीं होता। जिसकी दृष्टि सम्यग् नही होती, जिसका चरित्र यम-नियम युक्त नही

होता, वह व्यक्ति योग-साधना का अधिकारी नहीं होता।

४. जो मन इधर-उधर विचरण करता रहता है, किसी एक विषय पर निश्चल नहीं रहता, उसे विक्षिप्त कहा जाता है।
५. जो मन कभी अन्तर्मुखी बनता है और कभी बहिर्मुखी—उसे यातायात कहा जाता है।
६. विक्षिप्त और यातायात मन योग का प्रारम्भिक अभ्यास करने वाले व्यक्तियों में होते हैं।
७. इन दोनों मनोभूमिकाओं में विकल्पपूर्वक बाह्य वस्तुओं का ग्रहण होता रहता है। इसलिए इनमें स्थिरता अल्प मात्रा वाली एवं अल्पकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी अल्प होता है।
८. अपने ध्येय में स्थिर बने हुए मन को श्लिष्ट कहा जाता है।
९ जो मन अपने ध्येय में सुस्थिर बन जाता है, उसे सुलीन कहा जाता है।
१०. ये दोनों मनोभूमिकाएं परिपक्व अभ्यास वाले योगी के होती है।
११. इसमें बाह्य वस्तुओं का ग्रहण नहीं होता, इसलिए इन भूमिकाओ में स्थिरता दृढ़ एवं चिरकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी विपुल होता है।
१२. इस युगल (श्लिष्ट और सुलीन) का विषय मनोगत ध्येय ही होता है। यहां ध्येय सूक्ष्म और आत्मगत हो जाता है।
१३. जब मन बाह्य आलम्बन से शून्य होकर केवल आत्मपरिणत हो जाता है, तब उसे निरुद्ध कहा जाता है।
१४. यह भूमिका वीतराग को प्राप्त होती है।
१५. इसमें सहज आनन्द प्रकट हो जाता है।

मन की छह अवस्थाएं

मन चेतना की वह अवस्था है जो वाहरी वातावरण और वृत्तियो से प्रभावित होता है। उसकी चंचलता सहज नहीं है किन्तु वाह्य वातावरण और वृत्ति के योग से निष्पन्न है। चंचलता का मूल हेतु वृत्ति है। मनुष्य जो प्रवृत्ति करता है, वह अल्पकालिक होती हे। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती

है, पीछे उसकी स्मृति रह जाती है। चंचलता का एक हेतु स्मृति है।

मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है। वह मन ही मन भविष्य का स्वप्न सजोता रहता है। वे स्वप्न मन में चंचलता उत्पन्न करते हैं। चंचलता का एक हेतु कल्पना है।

मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क करता है। यह बाह्य जगत् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमय है। वह मन के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार का है। अनुंकूल के प्रति आसक्ति और प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। ये आसक्ति और द्वेष मन की चंचलता के वर्तमान हेतु हैं।

इस प्रकार स्मृति, कल्पना तथा आसक्ति और द्वेष—ये चारों आन्तरिक वृत्तिया मन को चंचल करती रहती हैं। मन की स्थिरता का अर्थ है स्मृति का निरोध, कल्पना का निरोध, आसक्ति का निरोध और द्वेष का निरोध। नन की स्थिरता का अभ्यास क्रम है—स्मृति की शुद्धि, कल्पना की शुद्धि, आसक्ति की शुद्धि और द्वेष की शुद्धि।

जब आसक्ति और द्वेष तीव्रतम होते है तब दृष्टि और चारित्र दोनों विकारग्रस्त हो जाते हैं। उस स्थिति में मन का क्षोभ प्रबल हो जाता है।

प्रारम्भ में मन को एक स्मृति की परम्परा में लगाने का अभ्यास किया जाए। इससे मन की गति एक प्रवाह मे हो जाती है। ऊपर से ऊपर उभरने वाली स्मृतिया और कल्पनाए रुक जाती हैं। एक स्मृति की अविच्छिन्न धारा का अभ्यास हो जाने पर फिर कुम्भक का अभ्यास किया जाए। उसमे स्मृति और कल्पना का निरोध हो जाता है। ध्येय के साथ तादात्म्य होने पर सहज ही कुम्भक हो जाता है।

अनासक्ति के लिए अनित्य और एकत्व भावना का अभ्यास किया जाता है। द्वेष-निवृत्ति के लिए आत्मौपम्य की भावना या प्रेम का विकास किया जाए। इस प्रकार समुचित साधनों के द्वारा मन की चंचलता के कारण-भूत तत्त्वो का निरोध किया जा सकता है।

मूढ अवस्था में आसक्ति और द्वेष बहुत प्रबल होते हैं। मूढ अवस्था का मन बाह्य जगत् और परिस्थिति का प्रतिबिम्ब लेता रहता है इसलिए वह एकाग्र या स्थिर होने की दिशा में गति नहीं कर पाता।

मूढ अवस्था की भूमिका पार कर लेने पर व्यक्ति के मन में भीतर

की ओर झांकने की भावना जागृत होती है। वह इस भावना की पूर्ति के लिए अन्तर्निरीक्षण अर्थात् ध्यान का प्रयोग प्रारम्भ करता है। किन्तु यह प्रयोग एक श्वास में ही सफल नहीं हो जाता है। इसकी सफलता के लिए इसे बहुत लम्बी साधना व प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब वह अन्तर्निरीक्षण का प्रारम्भ करता है, तब मन जो पहले शान्त-सा प्रतीत होता था और अधिक चंचल हो जाता है। मन को इधर-उधर चक्कर लगाते देख ध्याता के मन में विकल्प उठता है कि वह ध्यान करके एक शान्त सर्प की पूंछ पर पग रख लेता है या सोये सिह को ललकार लेता है। किन्तु यह घबराने की स्थिति नहीं है। यह मन की स्थिरता की ओर बढने वाला पहला चरण है। आपने अनुभव किया होगा कि जमे हुए कूडे-करकट के ढेर मे दुर्गन्ध नहीं आती किन्तु उसे साफ करने के लिए आप खोदेगे, उस समय दुर्गन्ध फूट पडेगी। यह शोधन का पहला चरण है। किसी व्यक्ति के पेट मे मल संचित है, उसे सामान्यतः कष्ट का अनुभव नहीं होता किन्तु जब वस्ति (ऐनीमा) के द्वारा मल का शोधन किया जाता है, तब वायु कुपित हो जाता है, पीडा भी बढ जाती है किन्तु वह प्रकोप और पीडा शोधन की प्रक्रिया का प्रथम संकेत है। ठीक इसी प्रकार ध्यान के प्रारम्भ-काल मे जो मन की चंचलता बढती है, वह ध्यान की दिशा मे उठने वाला पहला पग है।

प्रारम्भ में कुछ समय तक ध्याता ध्यान करने की मुद्रा मे बैठ जाता है किन्तु अन्तर्निरीक्षण की स्थिति का उसे कोई अनुभव नहीं होता। किसी के लिए यह स्थिति थोड़े समय के लिए होती है और किसी-किसी के लिए लम्बे समय तक चली जाती है। जो इस स्थिति से घवराकर अन्तर्निरीक्षण के अभ्यास को छोड़ देता है वह बीच में ही रुक जाता है और जो इस स्थिति में घवराता नहीं है वह अगली भूमिकाओ मे पहुच जाता है।

विक्षिप्त की अगली भूमिका सन्धि की है। डस भूमिका मे ध्याता का मन अन्तर्निरीक्षण का अनुभव कर लेता है, यद्यपि वह उसमें लम्वे समय तक टिक नही पाता। अन्तर्निरीक्षण करते-करते फिर वाहर लौट आता है। फिर अन्तर्निरीक्षण का प्रयत्न करता है और फिर वाहर लौट आता है। किन्तु इस भूमिका मे एक वडा लाभ यह होता है कि अन्तर्निरीक्षण का जो द्वार वन्द था, वह खुल जाता है।

अन्तर्निरीक्षण का अभ्यास वढते-वढते मन एक विपय पर स्थिर रहने

लग जाता है। इस भूमिका में ध्येय के साथ ध्याता का श्लेष हो जाता है। जिस प्रकार गोंद से दो कागज चिपक जाते हैं, उसी प्रकार ध्याता का ध्येय के साथ चिपकाव हो जाता है किन्तु चिपके हुए दो कागज आखिर दो ही रहते है। उनमें एकात्मकता नहीं होती।

स्थिरता का अभ्यास क्रमशः बढ़ता है। उसकी वृद्धि एक दिन तन्मयता या लीनता के बिन्दु तक पहुंच जाती है। यह मन की पांचवीं अवस्था है। पानी दूध में मिलकर जैसे अपना अस्तित्व खो देता है, वैसे ही इस भूमिका में ध्याता ध्येय में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। यह स्थिति पहले ही चरण में प्राप्त नहीं होती किन्तु पूर्वोक्त क्रम से निरन्तर आगे बढते रहने से एक दिन यह स्थिति अवश्य प्राप्त हो जाती है।

पाचवी भूमिका में मन की स्थिरता शिखर तक पहुंच जाती है। किन्तु उसका (मन का) अस्तित्व या उसकी गति समाप्त नहीं होती। ध्याता ध्येय में लीन होकर कुछ समय के लिए जैसे अपने उपलब्ध अस्तित्व को भुला देता है किन्तु ध्येय की स्मृति उसे बराबर बनी रहती है। छठी भूमिका में वह ध्येय की स्मृति भी समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि मन का अस्तित्व या उसकी गतिक्रिया समाप्त हो जाती है। यह निरालम्बन ध्यान या सहज चैतन्य के उदय की भूमिका है। इसमे प्रत्यक्षानुभूति प्रबल हो जाती है, इसलिए इन्द्रिय और मन जो परोक्षानुभूति के माध्यम हैं, अर्थहीन वन जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं।

चैतन्य और आनन्द का स्वाभाविक सम्बन्ध है। जहां चैतन्य है, वहां आनन्द है और जहां आनन्द है, वहा चैतन्य है। इन दोनों मे से एक को पृथक् नही किया जा सकता। हर मनुष्य के भीतर जैसे चैतन्य का अजस्र प्रवाह है वैसे ही आनन्द का भी अजस्र प्रवाह है किन्तु मन की चंचलता के कारण उसकी अनुभूति निरन्तर नहीं होती।

कोई आदमी कुछ कहता है, उस समय यदि हमारा मन चंचल होता है तो हम उसकी बात को सुन ही नहीं पाते और यदि सुन पाते है तो उसे पूरी तरह पकड नही पाते। ठीक इसी प्रकार मन की चंचलता के कारण अपने भीतर वहने वाले आनन्द के प्रवाह का हम स्पर्श नही कर पाते। जिस भूमिका में मन थोडा स्थिर होता है, उस समय आनन्द की

हल्की-सी अनुभूति हो जाती है। जैसे-जैसे मन की स्थिरता की मात्रा बढती है, वैसे-वैसे आनन्दानुभूति की मात्रा बढ़ती जाती है। मन का निरोध होने पर सहज आनन्द का साक्षात्कार हो जाता है।

मन की दूसरी और तीसरी कक्षा में विकल्पों (कल्पनाओं) का सिलसिला चालू रहता है। अतः मन दूसरी-दूसरी चीजों मे अटका रहता है। फलस्वरूप उस समय हम सहज चेतना के स्तर पर नहीं होते। उस समय जो आनन्द का अनुभव होता है, वह मन की स्थिरता के कारण अन्तःस्रावी नलिकाओ में होने वाले अन्तःस्राव से होता है।

चौथी और पांचवीं कक्षा में विकल्पो का सिलसिला नहीं रहता। हमारा मन एक ही विकल्प पर स्थिर हो जाता है। हमारे मस्तिष्क की सुखानुभूति की ग्रन्थि तथा अन्तःस्रावी नलिकाओं पर उसका अधिक प्रभाव होता है। फलस्वरूप आनन्द की अनुभूति अधिक होती है।

निरोध की कक्षा में सहज आनन्द के साथ साक्षात् सम्पर्क हो जाता है। उस पर शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव नहीं होता, इसलिए वह चिरस्थायी होता है।

पहली कक्षाओ मे सहज आनन्द की अनुभूति नही होती है, ऐसी बात नहीं है किन्तु उसकी पूर्ण अनुभूति निरोध की कक्षा मे होती है। इसीलिए पहली कक्षाओ में शारीरिक परिवर्तन से होने वाली आनन्दानुभूति की मुख्य रूप से चर्चा की गई है। वैसे तो किसी पौद्गलिक सम्पर्क के बिना आनन्द की अनुभूति होती है, उसमे सहज आनन्द का प्रतिविम्ब या प्रभाव रहता ही है।

१६. **ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥**

१७. **श्रद्धाप्रकर्षेण॥**

१८. **शिथिलीकरणेन॥**

१९. **संकल्पनिरोधेन॥**

२०. **ध्यानेन च॥**

२१. **गुरूपदेश-प्रयत्नवाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः॥**

१६. आत्मज्ञान और वैराग्य से मन का निरोध होता है। आत्मज्ञान चैतन्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। जब हमारे चैतन्य का प्रवाह अन्तर्मुख होता है तब मन की कल्पनाए और स्मृतियां निरुद्ध

हो जाती है। इसी प्रकार वह पदार्थो व वृत्तों के प्रति अनासक्त होता है, तब उसकी चंचलता छूट हाती है।

१७ मन के निरोध का एक हेतु श्रद्धा का प्रकर्ष है। वह ध्येय के प्रति अत्यन्त निष्ठाशील व समर्पित होकर निरुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान, वैराग्य और श्रद्धा-प्रकर्ष—मन की स्थिरता के ये तीनों हेतु आन्तरिक हैं।

१८. काय का शिथिलीकरण भी मन के निरोध का साधन है। काय की चंचलता मन की चंचलता को बढ़ाती है। मन की स्थिरता के लिए शरीर की स्थिरता आवश्यक है।

१६. संकल्पो का निरोध करने से भी मन निरुद्ध होता है। मन कल्पनाओ से भरा रहता है तब क्रियात्मक शक्ति का विकास नही होता। करणीय कल्पना का मन पर भार न हो, वह खाली रहे तभी उसकी शक्ति केन्द्रित होती है।

२० मनोनिरोध का सबसे बडा साधन है—ध्यान।
शिथिलीकरण, संकल्प-निरोध और ध्यान—मन की स्थिरता के ये तीनों हेतु अभ्यासात्मक है।

२१. गुरु के उपदेश—साधना के रहस्यों का प्रशिक्षण और प्रयत्न की वहुलता—बार-बार अभ्यास करने से उक्त साधनों की उपलब्धि हो जाती है।

मनोनिरोध के साधन

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—यह मन एक चपल घोड़ा है। वह चलते-चलते उन्मार्ग की ओर भी चला जाता है। आप उसका निग्रह कैसे करते हैं ?[१]

गौतम ने कहा—मैने उस घोड़े को खुला नहीं छोड़ रखा है। उसकी लगाम मेरे हाथ मे है।[२]

वह लगाम क्या है ? ज्ञान, बुद्धि या विवेक लगाम है। वह जिसके हाथ मे होती है, वह उस घोडे पर नियंत्रण पा लेता है।

१ उत्तराध्ययन, २३/५५
२. वही, २३/५६

इस संवाद में मन को स्थिर करने का जो उपाय बताया गया है, वह ज्ञानयोग है। यह मन के अनुशासन का प्रथम हेतु है। यह हर मनुष्य के लिए कठिन है। दूसरी बात यह है कि सबकी रुचि भी समान नहीं है। कोई आदमी ज्ञान-प्रधान होता है तो कोई श्रद्धा-प्रधान होता है और कोई क्रिया-प्रधान होता है।

यहां ज्ञान का अर्थ सब कुछ जानना नही है। किन्तु अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति है। वैराग्य उसका परिणाम है। अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग होने का नाम ही विराग है। जब तक अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक बाह्य वस्तुओ के प्रति मन मे तृष्णा रहती है। उसके द्वारा उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। आत्मानुभूति होने पर यह स्थिति उलट जाती है। अनुराग वस्तुओं से हटकर अपने प्रति हो जाता है। इसका अर्थ है कि उनके प्रति विराग हो जाता है।

संकल्प, विकल्प और इच्छा—ये सब मन के कार्य है। बाह्य वस्तुओ के प्रति जितनी कल्पना और इच्छा होती है, मन उतना ही चचल रहता है। मन की गति को आत्मा की ओर मोड़ देने पर उसकी कल्पना और इच्छा-शक्ति क्षीण हो जाती है। इसी को हम कहते है वैराग्य के द्वारा मन का निरोध।

वैराग्य ज्ञानयोग का ही प्रकार है। आत्मज्ञान की निर्मलता वैराग्य का रूप ले लेती है। कोई भी आदमी ऐसा नही हो सकता जो आत्मज्ञानी नहीं है और विरक्त है। ऐसा भी कोई आदमी नहीं हो सकता जो विरक्त नही है और आत्मज्ञानी है। जो आत्मज्ञानी होगा वह विरक्त होगा और जो विरक्त होगा वह आत्मज्ञानी होगा, यह निश्चित व्याप्ति है।

आत्मज्ञान के दो हेतु है—निसर्ग और अधिगम। कुछ लोग निसर्ग से ही आत्मज्ञानी होते हैं। अधिगम का अर्थ है गुरु का उपदेश। गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले नैसर्गिक आत्मज्ञानी की अपेक्षा अधिक होते है। नैसर्गिक आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करते हैं किन्तु गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान की दिशा मे चलने वाले श्रद्धा के प्रकर्ष से मानसिक एकाग्रता साध लेते हैं। श्रद्धा के

प्रकर्ष में विश्वास केन्द्रित हो जाता है और मन की तरलता सघनता में बदल जाती है।

ज्ञान और वैराग्य चैतन्य की स्वाभाविक क्रियाएं हैं। श्रद्धा का प्रकर्ष प्रेरणा से प्राप्त क्रिया है। मन की एकाग्रता केवल इन्हीं से नहीं होती है। वह शरीरसंयम से भी हो सकती है। शरीर की चंचलता अर्थात् मन की चचलता। शरीर की स्थिरता अर्थात् मन की स्थिरता। शरीर की स्थिरता शिथिलीकरण के द्वारा प्राप्त होती है। शिथिलीकरण की पूरी प्रक्रिया कायोत्सर्ग के प्रकरण में दी जाएगी।

शरीर की शिथिलता संकल्प और श्वास-संयम पर निर्भर है। आप पद्मासन या सुखासन मे बैठकर शरीर को ढीला छोड दीजिए और शरीर की शिथिलता का संकल्प कीजिए। शरीर शिथिल हो रहा है, ऐसा अनुभव कीजिए। अनुभव जितना तीव्र होगा, उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

संकल्प की साधना के पश्चात् श्वास-संयम का अभ्यास कीजिए। यहां श्वास-संयम से मेरा अभिप्राय प्राण को सूक्ष्म करने से है। हम जो श्वास लेते है, वह स्थूल प्राण है। श्वास लेने की जो शक्ति (श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति) है, वह सूक्ष्म प्राण है। नाभि और नासाग्र पर दो-चार क्षण के लिए मन को एकाग्र कीजिए। सहज ही श्वास-संयम हो जाएगा। श्वास की मन्दता या सूक्ष्मता से शरीर की क्रियाएं सूक्ष्म हो जाती हैं और शिथिलीकरण सध जाता है। शरीर की स्थिरता और श्वास की स्थिरता होने पर मन का निरोध सहज सरल हो जाता है।

मन की प्रवृत्ति संकल्प और विकल्प के द्वारा बढ़ती है। उसका निरोध होने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। संकल्प-निरोध और ध्यान में भिन्नता नही है। सकल्प का निरोध किए विना ध्यान नहीं होता और जब ध्यान होता है, तब संकल्प का निरोध होता ही है। फिर भी यहां सकल्प-निरोध को मानसिक स्थिरता का ध्यान से भिन्न साधन माना है। उसका एक विशेष हेतु है। उसके द्वारा एक विशेष प्रक्रिया का सूचन किया गया है। संकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। लम्बे समय तक उसे रोकने में कठिनाई होती है। इसलिए प्रारम्भ मे उस प्रवाह की निरन्तरता में विच्छेद डालने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रक्रिया को

आकस्मिक कुम्भक के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। आप पूरक और रेचन न करें। एक क्षण के लिए कुम्भक करें, वह भी आकस्मिक ढंग से। जैसे कोई बाधा आने पर चलता पैर अकस्मात् रुक जाता है, वैसे ही श्वास को हठात् बन्द कर लीजिए। क्षण-भर के लिए कुम्भक की मुद्रा में रहिए। जिस क्षण कुम्भक होगा, उस क्षण में सकल्प भी उसी प्रकार आकस्मिक ढग से बन्द हो जाएगा। इस क्रिया को पांच-दस मिनट के बाद फिर दोहराएं। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से संकल्प का प्रवाह स्खलित हो जाता है। लम्बे समय की एकाग्रता के लिए यह क्रिया पृष्ठ-भूमि का काम करती है।

मानसिक निरोध का प्रबलतम हेतु ध्यान है। जब हम किसी एक विषय पर स्थिर रहने का अभ्यास करते हैं, तब मन की चंचलता को एक स्थान मे रोकने का प्रयत्न करते है। उच्छृंखलता से विचरने वाली मन की चंचलता का क्षेत्र सीमित हो जाता है, हजारो-हजारों विषयों से हटकर एक विषय में सिमट जाता है, यह मन की चंचलता का गतिभंग है। इसकी बार-बार पुनरावृत्ति होने पर वह गतिभंग गतिनिरोध के रूप में बदल जाता है। गौतम ने पूछा—'भन्ते ! एक आलम्बन पर मन का सन्निवेश करने से क्या लाभ होता है ?' भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम ! उससे चित्त का निरोध हो जाता है।' [1]

चित्त-निरोध की प्रक्रिया गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है और प्रयत्न की बहुलता से उसकी सिद्धि होती है। मन की स्थिरता जान लेने मात्र से नहीं होती। इसके लिए अनेक प्रयत्न करने होते है, लम्वे समय तक निरन्तर और श्रद्धा के साथ। कोई व्यक्ति मानसिक स्थिरता का अभ्यास करता है, उसमे पूरा समय नही लगाता अर्थात् तीन घटे का समय नही लगाता, उसे पूर्ण सफलता प्राप्त नही होती। थोडा समय लगाने से कुछ लाभ अवश्य होता है किन्तु कोई भी आदमी स्वल्प प्रयत्न से शिखर तक नही पहुंचता।

जिसका चित्त अनवस्थित होता है—कभी स्थिरता का अभ्यास करता है, कभी नही करता, इस प्रकार कभी-कभी अभ्यास करने वाला भी सफलता से वंचित रहता है। लम्वे समय तक और निरन्तर अभ्यास

१. उत्तराध्ययन, २६/२६

करने वाला भी श्रद्धा के बिना सफल नहीं हो सकता। श्रद्धा का अर्थ है, तन्मय हो जाना, ध्येय के प्रति समर्पित हो जाना या उसमें विलीन हो जाना।

गुरु का उपदेश—ध्यान की प्रक्रिया की शिक्षा, श्रद्धा, दीर्घकालीन और निरन्तर अभ्यास—इस पूर्ण सामग्री के प्राप्त होने पर मानसिक एकाग्रता या निरोध की साधना सरल हो जाती है।

तीसरा प्रकरण

१. एकाग्रे मनःसन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम् ॥

१. आलम्बन पर मन को टिकाना अथवा योग (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति) का निरोध करना ध्यान है।

ध्यान

मन की दो अवस्थाए है—गत्यात्मक और स्थित्यात्मक। गत्यात्मक अवस्था को मन और स्थित्यात्मक अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन सकल्पों से भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतियां उभरने लग जाती है। सहज प्रश्न होता है कि इसका क्या कारण है ? जव मन की प्रवृत्ति होती है तब उतनी चंचलता नही होती जितनी उसको स्थिर करने का प्रयत्न करने पर होती है। हम गहराई मे जाए तो पाएंगे कि चेतना चंचल नही होती। मन चेतना का एक अश है। वह भला कैसे चंचल हो सकता है ? वह वृत्तियो के चाप से चचल होता है। वृत्तियो का जितना चाप होता है, उतना ही वह चचल होता है और वृत्तियां जितनी शान्त या क्षीण होती हैं, उतना ही वह स्थिर होता है। यही ध्यान होता है। तालाव का जल स्थिर पडा है। उसमे एक ढेला फेका और वह चचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नही, किन्तु वाह्य सपर्क से उत्पन्न हे। ठीक इसी प्रकार मन की चचलता भी स्वाभाविक नही, किन्तु वृत्तियों के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। मन की चंचलता एक परिणाम है। वह हेतु नही है। उसका हेतु है—वृत्तियों का जागरण।

वृत्तियां दो प्रकार की होती है—सत् और असत्। असत् से सत् की ओर जाना पहला चरण है और दूसरा चरण है असत् को क्षीण करना। असत् मे मन चचल रहता है, सत् मे शान्त और असत् को क्षीण करने

पर वह अतिमात्र शान्त हो जाता है। इस सारी प्रक्रिया को मनोगुप्ति कहा जाता है। गुप्त मन की तीन अवस्थाएं हैं।

१. कल्पना-विमुक्त
२. समत्व-प्रतिष्ठित
३ आत्माराम

विमुक्तं कल्पनाजाल, समत्वेषु प्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनश्चेति, मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता॥

कल्पना-विमुक्त

मन को एक साथ खाली नहीं किया जा सकता। उसे असत् कल्पनाओं से मुक्त करने के लिए सत् कल्पनाओ का आलम्बन लिया जाता है। इन कल्पनाओ का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य में मिलता है।

कल्पना करें कि हृदय कमल है। उसके चार पत्र हैं। वीच में एक कर्णिका है। चार पत्रो और कर्णिका पर क्रमशः अ, सि, आ, उ, सा लिखा हुआ है। प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है। यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाए अपने आप विलीन हो जाएंगी।

दो नासाग्र, दो आंख, दो कान और एक मुख—ये सात रन्ध्र हैं। इन पर क्रमशः ण, मो, अ, र, ह, ता, ण—इस मन्त्र-जप के साथ ध्यान किया जाए। वर्ण और स्थान के ध्यान साथ-साथ हों। इससे मन शेष कल्पनाओ से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सैकड़ो उपाय साधना की लम्वी परम्पराओ में प्राप्त होते है।

समत्व-प्रतिष्ठित

वृत्तिया दबी रहती हैं। वे निमित्त का योग पाकर उत्तेजित होती है और उभर आती हैं। उनकी उत्तेजना का बहुत बड़ा निमित्त है विषमता। जव-जब मन में विषमता के भाव आते है, तब-तब वह चचल, अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्ति ने मेरा सम्मान किया है और अमुक ने अपमान। सम्मान और अपमान की स्मृति होते ही मन चंचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान दोनो को ग्रहण

नहीं करता तथा दोनो को आत्मा से वाह्य मानता है, उसका मन समता में प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमान की स्मृति ही नही होती तब वह उसके कारण चंचल, अधीर या अशान्त कैसे हो सकता है ? इस प्रकार राग-द्वेष जनित जितनी विषमताएं है, उनका ग्रहण नही करने वाला मन समता मे प्रतिष्ठित होता है।

आत्माराम

यह गुप्त मन की तीसरी अवस्था है। इसमे चेतना के अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। वह कषाय (क्रोध आदि के रंगों) से मुक्त होकर शुद्धोपयोग (शुद्ध चेतना) मे परिणत हो जाता है। इस स्थिति को इन शब्दों मे भी समझाया जा सकता है कि यहां शुद्ध चेतना या चैत्य पुरुष से भिन्न मन का कोई अस्तित्व ही नही रहता।

संस्कृत की एक धातु है—'ध्यै चिन्तायाम्' । ध्यान शब्द उससे निष्पन्न हुआ है। उस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ होता है-चिन्तन।

चिन्तन का प्रवाह चंचलता की ओर जाता है और ध्यान का प्रवाह स्थिरता की ओर। इसी आधार पर ध्यान की एक परिभाषा मिलती है—'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्।' एक आलम्बन पर चिन्तन को रोके रखना ध्यार्न है। हमारा चिन्तन अनेक विषयो पर चलता रहता है, वह ध्यान नही है। किन्तु वह चिन्तन एक विषय पर स्थिर हो जाता है, वह ध्यान है।

चिन्तन में एक संतति का होना आवश्यक नही है किन्तु ध्यान मे एक संतति का होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। इसी आशय को लक्ष्य मे रखकर ध्यान की एक परिभाषा की गई है—'विषयान्तरास्पर्शवती चित्तसन्ततिर्ध्यानम्'—चित्त की वह सतति (प्रवाह) जो अवलम्वित विपय के अतिरिक्त दूसरे विपयो का स्पर्श नही करती, ध्यान कहलाती है। इससे फलित होता है कि ध्यान सामान्य चिंन्तन नहीं है किन्तु एक ही विपय पर जो चिंतन की धारा प्रवहमान होती है, वह ध्यान है। जल की एक वूंद गिरती है और टूट जाती है। दूसरी वूंद गिरती है और फिर क्रमभग हो जाता है। इस प्रकार क्रमभंग कर गिरने वाली वूंदो से ध्यान की तुलना

नही की जा सकती। ध्यान की तुलना उस धार से की जा सकती है, जिसमे क्रमभग नहीं होता।

उक्त परिभाषाओं से फलित होता है कि ध्यान स्थिरता की दिशा मे वढने वाला चिंतन है। इसी आशय को 'एकाग्रे मनः सन्निवेशनं' के द्वारा व्यक्त किया गया है।

प्रश्न– ज्ञान और ध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर–ध्यान ज्ञान की ही एक अवस्था है–'व्यग्रं, ज्ञानं एकाग्र ध्यानं'–जो चचल है, वह ज्ञान और स्थिर ज्ञान ही ध्यान है। ध्यानशतक मे इसी आशय को स्पष्ट किया गया है–जं थिरमज्झवसाणं झाणं त चलतय चित्त–जो स्थिर चैतन्य है, वह ध्यान है और जो चल चैतन्य है, वह चित्त है। बर्फ को जल से भिन्न नही कहा जा सकता। जल तरल होता है तब जल कहलाता है। वही घनीभूत होकर बर्फ कहलाता है। ज्ञान और ध्यान की यही स्थिति है।

प्रश्न–जप और ध्यान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर–जप में शब्द का उच्चारण होता है। ध्यान में शब्द का उच्चारण नही होता है।

प्रश्न–मानसिक जप मे शब्द का उच्चारण नहीं होता, क्या वह भी ध्यान है ?

उत्तर–यह ठीक है कि उसमे शब्द का उच्चारण नही होता किन्तु उसका पुनरावर्तन होता है। ध्यान मे न शब्द का उच्चारण होता है, न पुनरावर्तन। सामान्यतया जप ध्यान नही है–किन्तु कभी-कभी एकाग्रता की मात्रा बढ जाने पर वह ध्यान से अभिन्न हो जाता है।

प्रश्न–यदि पुनरावर्तन नहीं होता तो ध्यान मे क्या किया जाता है ?

उत्तर–ध्यान मे ध्येय को देखा जाता है। वास्तव मे ध्यान का चिंतन अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है। उसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है–अन्तर्निरीक्षण, मानसिक चक्षु से देखना–साक्षात्कार करना। ध्यानकाल में हम जिसका आलम्बन ले, वह मानसिक चक्षु से आलेखित चित्र की भांति स्पष्ट दीखने लग जाए तब ध्यान निष्पन्न होता है। हम ध्यान करने के लिए बैठते हैं तब किसी शब्द या आकृति का आलम्बन लेते है। आलम्बित शब्द और आकृति जब तक मानसिक चक्षु से स्पष्टत· दीखने नहीं लग जाती, तब तक धारणा

की स्थिति चलती है, ध्यान की स्थिति प्राप्त नही होती। जब आलम्बित विषय साक्षात् हो जाता है तब धारणा ध्यान के विन्दु पर पहुंच जाती है।

एक आलम्वन पर मन को टिकाना ध्यान का प्रारम्भ है, पूर्णता नही। उसकी पूर्णता निरोध अवस्था मे प्राप्त होती है।

१. मन का निरोध (मन का संवर)

२. वाणी का निरोध (वाणी का संवर)

३. शरीर का निरोध (शरीर का संवर)

४. श्वास का निरोध (श्वास का संवर)

जब ये चारों निरुद्ध हो जाते हैं तब ध्यान की वास्तविक कक्षा प्राप्त होती है। यही जैन परिभाषा में संवरयोग है।

प्रश्न—एकाग्रता या स्थिरता और निरोध में क्या अन्तर है ?

उत्तर—दीया हवा में पडा है। उस समय उसकी लौ बहुत चंचल होती है। उसे कमरे के भीतर निर्वात प्रदेश मे रख देने पर उसकी लौ स्थिर—शान्त हो जाती है। तेल या घी के समाप्त होने पर दीया बुझ जाता है, लौ समाप्त हो जाती है। दीये की पहली अवस्था चचल है, दूसरी स्थिर और तीसरी निरुद्ध। ज्ञान की तुलना हवा मे रखे हुए दीये से की जा सकती है। एकाग्र-ध्यान की तुलना निष्प्रकम्प दीये से हो सकती है। निरोधात्मक ध्यान बुझे हुए दीये जैसा होता है। उसमें मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। हमारा चैतन्य शाश्वत है। मन शाश्वत नही है। मन मन्यमान होता है अर्थात् वर्तमानकाल मे होता है। मनन से पहले क्षण मे मन नही होता और उसके उत्तरक्षण में भी मन नही होता। इसका आशय यह है कि मन मननकाल मे उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है, उसके अस्तित्व का विलय भी होता है। निरोधात्मक ध्यान की प्रक्रिया यही है कि अनुत्पन्न मन को उत्पन्न नही करना। मन को उत्पन्न न करने का अर्थ है—कल्पना, स्मृति और इच्छा से मुक्त हो जाना।

प्रश्न—मन का निरोध, निद्रा और मूर्च्छा क्या एक नहीं है ?

उत्तर—निद्रा मे मन का निरोध नही होता। उसमे स्थूल मन निष्क्रिय हो जाता है किन्तु सूक्ष्म मन (अवचेतन मन) काम करता रहता है। इसलिए निद्रा मानसिक निरोध की स्थिति नहीं है।

मूर्च्छा मे आत्मवोध विस्मृत होता है किन्तु मनोनिरोध की अवस्था

मे आत्मबोध अधिक तीव्र हो जाता है। ध्यान का अर्थ ही है—आत्मानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति। इसलिए ध्यान और मूर्च्छा की दिशा एक नहीं है। मूर्च्छा मे बाह्य बोध और आन्तरिक बोध दोनों के प्रति शून्यता होती है। ध्यान में बाह्य बोध के प्रति शून्यता होती है किन्तु आन्तरिक बोध अधिक जागरूक हो जाता है।

प्रश्न—कायोत्सर्ग और ध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—शरीर की चचलता का विसर्जन किए बिना मन की चंचलता विसर्जित नहीं होती। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग ध्यान का आधार है। कायोत्सर्ग मे शारीरिक स्थिरता की प्रधानता होती है जबकि ध्यान में मानसिक स्थिरता की।

ध्यान का एक अर्थ केवल स्थिरता किया गया है। उस परिभाषा के आधार पर हमारे आचार्यो ने ध्यान के तीन प्रकार बतलाए हैं।

१. **कायिक ध्यान**—शरीर की चंचलता का विसर्जन, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति।
२. **वाचिक ध्यान**—वाणी की चंचलता का विसर्जन, मौन या वचोगुप्ति।
३. **मानसिक ध्यान**–मन की चंचलता का विसर्जन, मनोगुप्ति।

इन भेदों के आधार पर ध्यान की परिभाषा यह हो सकती है—'कायवाड् मनसा स्थिरीकरणं ध्यानम्।' श्वास की स्थिरता शरीर की स्थिरता से सलग्न है।

प्रश्न—समाधि और ध्यान में क्या अन्तर है ?

उत्तर—ध्यान से मन का समाधान होता है, इसलिए ध्यान स्वयं समाधि है। किन्तु परिभाषा की दृष्टि से समाधि ध्यान की उच्चतम स्थिति है। ध्यान की जिस भूमिका में मन पूर्णरूपेण निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य का जागरण रहता है, उस स्थिति का नाम समाधि है। महर्षि पतंजलि के अनुसार वह योग का आठवां अंग है। जैन वाड्मय के अनुसार वह ध्यान का ही एक विशिष्ट रूप है।

ध्यान की विधि

ध्यान करने से पहले शरीर को स्थिर करें। वह बिल्कुल न हिले-डुले।

फिर दो-तीन मिनट उसे सूचना दें कि वह शिथिल हो रहा है। फिर यह सूचना दे कि श्वास शिथिल हो रहा है। शरीर और श्वास दोनों शिथिल हो जाएं तब यह सूचना दें कि मन शिथिल हो रहा है। जब मन शिथिल हो रहा हो, उस समय या तो चिंतन को सर्वथा बन्द कर दें, वैसा न कर सकें तो अर्हत्, सिद्ध आदि जो भी इष्ट हो, उस शब्द को याद कर उसके अर्थ पर मन को एकाग्र करें। जो ध्येय है उसे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करें।

ध्यान करने वाला पूर्व या उत्तर की ओर मुह करके बैठे। आंखे या तो मुंदी हुई हों या अधखुली। वे यदि खुली हो तो मानसिक कल्पना से उन्हे वही नासाग्र पर केन्द्रित किया जाए।

ध्यान-काल मे आसन कष्टदायी नही किन्तु सहज होना चाहिए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पर्यकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाये गए है। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए, ऐसा आग्रह नही है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—जिस आसन में बैठने पर मन निश्चल हो, वही आसन करणीय है।

येन केन सुखासीना, विद्ध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेवं विधेयं स्यात्, मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ ज्ञानार्णव ॥

ध्यान तदात्मकता

ध्यान करने वाले को तदात्मक होने का अभ्यास डालना चाहिए अर्थात् जिसका ध्यान करे, उसके साथ एकात्मकता स्थापित करनी चाहिए। क्रिया के साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो वोले उसमे मन का योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जप, भावना या स्वाध्याय में तन्मय होने पर एकाग्रता की मात्रा ध्यान के विन्दु तक पहुच जाती है। उसमे वाणी का व्यापार होने पर भी एकाग्रता की उपयुक्त मात्रा के कारण वह वाचिक ध्यान कहलता है। जो करे उसमे मन का योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयता से जो किया जाता है वह सद्य. फलदायी होता है। ध्यान करने वाला ध्येय की सम्प्राप्ति के लिए अपने शरीर व मन को शून्य वना लेता है। ऐसा करने पर ध्येय और ध्याता मे एकात्मकता हो जाती है। इसी को

योगशास्त्र के आचार्यो ने एकीकरण, समरसी भाव, समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यान का फल

इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुराने जमाने की बात है। मगधदेश मे देवरापुर नाम का नगर था। वहां दो मित्र थे। एक का नाम राम था। वह बनिए का बेटा था। दूसरे का नाम नागदत्त था। वह ब्राह्मण का बेटा था। उन दोनो मे बहुत प्रेम था। वे सुख से रह रहे थे। एक दिन वहां राज्यविद्रोह हो गया। चारो ओर लूट मच गई। तब वे दोनों वहा से दौड़े और दक्षिणापथ की ओर चले गए। एक बार वे दोनो काठ लाने के लिए जंगल में गए। वहा महाबल नाम के साधु कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खडे थे। ध्यानलीन होने के कारण वे पर्वत की भांति अडोल थे। उन्होंने साधु को देखा। वह जीवन में पहला ही अवसर था। वे उन्हे अपलक देखते रहे। थोड़ी देर बाद एक-बड़ा-सा साप बिल मे से निकला और सीधा साधु के पास जा पहुंचा। उन्हें डसकर वापस बिल में घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खडे थे। ध्यान से जरा भी विचलित नही हुए। उनके शरीर में विष भी नही व्यापा। राम और नागदत्त को बहुत आश्चर्य हुआ। साधु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधु के पास गए, वन्दना की और बोले—भगवन् ! साप ने आपको काटा तो आप पर असर नही हुआ ? आप इस प्रकार कायोत्सर्ग मे रहते है, क्या आपको सर्दी-गर्मी से कष्ट नही होता ? साधु ने कहा—महानुभावो ! जो ध्यान-कोष्ठ मे स्थिर होता है, वह बाहरी स्थिति से प्रभावित नही होता। सर्दी-गर्मी आदि से बाधित नही होता, यह मेरा अनुभव है।

इस ध्यान-कोष्ठ मे शीत लहर का कोई असर नही होता और न तेज हवा से उद्वेलित अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है। भयकर कोलाहल वहां बाधा नहीं डाल सकता और सांप आदि विषैले जन्तु वहा पीडा उत्पन्न नही कर सकते। इन शारीरिक कष्टो की क्या बात है, वहा मानसिक कष्ट भी नही पहुंच पाते है। ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि जितने भी मानसिक कष्ट है, वे सब ध्यानलीन व्यक्ति के सामने निर्वीर्य बन जाते है।

२. **ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्यायभावना व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम् ॥**

३ **अल्पाहार ऊनोदरिका ॥**

४. **दुग्धादिरसानां परिहरणं रसपरित्यागः ॥**

५. **अशनत्याग उपवासः ॥**

२. ऊनोदरिका, रस-परित्याग, उपवास, स्थान—आसन, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये सब ध्यान के सहायक तत्त्व हैं।

३. ऊनोदरिका का अर्थ है—कम खाना, परिमित खाना, आंतों पर किंचित् भी भार न डालना।

४. यथोचित रीति से दूध आदि रसों का वर्जन करना रसपरित्याग है।

५. यथाशक्ति—मन आर्त्त न हो, वैसे अशन का त्याग करना उपवास है।

ध्यान और आहार

ध्यान का सम्बन्ध जितना मन से है, उतना ही शरीर से है। मस्तिष्क जितना भार-मुक्त होता है, उतना ही ध्यान अच्छा होता है। मस्तिष्क का भार-मुक्त होना आमाशय, पक्वाशय और मलाशय की शुद्धि पर निर्भर है। इनकी शुद्धि के लिए भोजन पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। जो आदमी भरपेट खाता है, वह ध्यान नहीं कर सकता। जो ध्यान करना चाहे उसके लिए पेट को हल्का रखना—कम खाना बहुत आवश्यक है।

आयुर्वेद के अनुसार भूख के चार भाग किए जाते हैं। दो भाग भोजन करना चाहिए, एक भाग पानी और एक भाग भोजन के बाद बनने वाली वायु के लिए छोड़ देना चाहिए। दो भाग खाना परिमित भोजन है। परिमित भोजन करना ऊनोदरिका की मर्यादा है।

भोजन के एक घंटा बाद पानी पीने और वायु बनने पर पेट हल्का रहे, कोई भार प्रतीत न हो तो समझा जा सकता है कि भोजन परिमित हुआ है।

अधिक खाने वाले व्यक्ति का अपानवायु दूषित होता है। उसके मानसिक और बौद्धिक निर्मलता नहीं होती। बहुत खाने से पाचन ठीक नही होता। उससे वायु-विकार (गैस) बढ़ जाता है। मन की एकाग्रता के लिए वायु-विकार संभवतः सबसे बडा विघ्न है। इन सब कारणों के आधार पर हम ध्यान और ऊनोदरिका का सम्बन्ध समझ सकते हैं।

प्रश्न—ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध और मधुर भोजन का विधान है, उस स्थिति में रस-परित्याग कैसे आवश्यक हो सकता है ?

उत्तर—ध्यान के लिए वीर्य-शुद्धि या ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। दूध, घी आदि रसों का प्रचुर सेवन करने से वीर्य पर्याप्त मात्रा मे बढता है। वह कामवासना को उत्तेजित करता है। उससे मानसिक चचलता बढ़ती है और वीर्य दोष उत्पन्न होते है। यदि वीर्य-सचित रहता है तो मन की चचलता बनी रहती है और यदि उसका विसर्जन किया जाता है तो उससे स्नायविक दुर्बलता बढ़ती है। स्नायविक दुर्बलता वाले व्यक्ति के मन का सन्तुलन नही हो सकता। मानसिक सन्तुलन के अभाव में ध्यान की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसीलिए रसो का प्रचुर मात्रा में सेवन करना ध्यानाभ्यासी के लिए हितकर नही है।

रस-परित्याग का सम्बन्ध अस्वादवृत्ति से है। जिसका मन स्वाद-लोलुपता में अटका रहता है उसके लिए ध्यान करना वहुत कठिन है, ध्यानाभ्यास के लिए वैषयिक अनुबन्धों से मुक्त होना बहुत आवश्यक है। वैषयिक अनुबन्धों में स्वाद का अनुबन्ध बहुत तीव्र होता है। उसके परिणामो पर विचार करने पर ध्यान और यथावकाश रस-परित्याग का सम्वन्धबोध सहज ही हो जाता है।

रस-परित्याग की निश्चित मर्यादा करना कठिन है। फिर भी उसके विषय मे कुछ रेखाएं खीची जा सकती है—

१. ध्यानाभ्यासी के लिए अधिक मात्रा में दही खाना उचित नहीं है। उससे शारीरिक और बौद्धिक जड़ता उत्पन्न होती है।
२ तली हुई चीजों से पाचन पर अनावश्यक भार पड़ता है, इससे वे भी हितकर नही हैं।

३. चीनी से अम्लता वढ़ती है और रक्त मे गर्मी वढने के कारण कुछ उत्तेजना भी बढती है। इसलिए चीनी का सयत प्रयोग ही हितकर हो सकता है।
४ दूध दिन-भर मे पाव या आधा सेर लिया जा सकता है किन्तु मस्तिष्क-सम्वन्धी कार्य के लिए उससे निष्पन्न होने वाली शक्ति की खपत हो तो।
५. वायु और पित्त के शमन के लिए एक या दो तोला घी लिया जा सकता है किन्तु उसकी अधिक मात्रा अपेक्षित नही है। घी सर्वाधिक वीर्यवर्धक वस्तु है। उसके अधिक सेवन का अर्थ है—अधिक वीर्य की उत्पत्ति और वीर्य के अधिक होने का अर्थ है वासना को उभारना। यह स्थिति ध्यान के लिए अनुकूल नही है।

जैन साधना-पद्धति मे दीर्घकालीन ध्यान को बहुत महत्त्व दिया गया है। तीन घटा ध्यान करना ध्यान की सामान्य काल-मर्यादा है। उसकी दीर्घकालीन मर्यादा है—कई दिनों या महीनों तक लगातार ध्यान करना। भगवान् महावीर ने सोलह दिन-रात तक निरन्तर ध्यान किया था। इस प्रकार का ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है जो भूख पर विजय पा लेता है।

केवल भूखा रहना अनशन नही है किन्तु ध्यान की साधना के लिए भूख पर विजय पा लेना अनशन है। यह शरीर को कष्ट देने की स्थिति नही है किन्तु आत्मानुभूति की गहराई मे वैठकर सहज आनन्द का स्पर्श करने की स्थिति है।

भूखा रहने से शारीरिक और मानसिक ग्लानि न हो, स्वाध्याय और ध्यान मे विघ्न न आए तव तक उपवास किए जा सकते है। यही उपवास की मर्यादा है। सवकी शक्ति समान नही होती, इसलिए उसकी मर्यादा भी भिन्न-भिन्न होती है। दीर्घकालीन ध्यान के लिए उपवास करना स्वतः प्राप्त है। अतः अनशन ध्यान की विशिष्ट साधना का सहायक तत्त्व है।

६. शरीरस्य स्थिरत्वापादनं स्थानम्॥

७. ऊर्ध्व-निषीदन-शयनभेदात् त्रिधा॥

८. समपाद-एकपाद-गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम् ॥

९. गोदोहिका-उत्कटुक-समपादपुता-गोनिषद्यिका-हस्तिशुण्डिका-पद्मवीर सुख-कुक्कुट-सिद्ध-भद्र-वज्र-मत्स्येन्द्र-पश्चिमोत्तान-महामुद्रासंप्रसारण-भूनमन-कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम् ॥

१० दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व-ऊर्ध्वशयनलकुट-मत्स्यपवनमुक्त-भुजंग-धनुरादीनि-शयनस्थानम् ॥

११ सर्वांग शीर्षादीनि विपरीत क्रियापादकानि ॥

६. विधिवत् शरीर को स्थिर बनाकर बैठना स्थान—आसन कहलाता है। यह कायगुप्ति है।

७. स्थान तीन प्रकार के होते हैं—

१. ऊर्ध्व-स्थान

२. निषीदन-स्थान

३. शयन-स्थान।

८. खड़े होकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'उर्ध्व-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये है—

१. समपाद	३. गृध्रोड्डीन
२. एकपाद	४. कायोत्सर्ग।

९. बैठकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'निषीदन स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये है—

१. गोदोहिका	९. कुक्कुटासन
२. उत्कटुकासन	१०. सिद्धासन
३. समपादपुता	११. भद्रासन
४. गोनिषद्यिका	१२. वज्रासन
५. हस्तिशुण्डिका	१३. मत्स्येन्द्रासन
६. पद्मासन	१४. पश्चिमोत्तानासन
७ वीरासन	१५. महामुद्रा
८. सुखासन	१६. संप्रसारणभूनमनासन

१७. कन्दपीडनासन।

१०. लेटकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'शयन-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये हे—

१. दण्डायतशयन	६. ऊर्ध्वशयन
२. आम्रकुब्जिकाशयन	७ लकुटासन
३. उत्तानशयन	८. मत्स्यासन
४. अवमस्तकशयन	६. पवनमुक्तासन
५. एकपार्श्वशयन	१०. भुजगासन

११. धनुरासन।

११. सर्वांगासन और शीर्षासन में विपरीतकरणी वाले स्थान है।

ध्यान और आसन

आसन साधना का एक अपरिहार्य अंग है। आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि जो व्यक्ति आहार-विजय, निद्रा-विजय और आसन-विजय को नहीं जानता, वह जिनशासन को नही जानता। आसन-विजय का अर्थ है—एक आसन मे घंटों तक बैठने का अभ्यास कर लेना।

महर्षि पतंजलि का अभिमत है कि आसन से द्वन्द्व पर विजय प्राप्त की जा सकती है। द्वन्द्व है—सर्दी गर्मी आदि। आसन से कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति विकसित होती है, इसलिए द्वन्द्व आसनकर्ता को पराजित नहीं कर सकते।

आसन के वर्ग

अपेक्षाभेद से आसनों के दो वर्ग होते है :

प्रथम वर्ग— १. खड़े होकर किए जाने वाले
२. बेठकर किए जाने वाले
३. लेटकर किए जाने वाले।

द्वितीय वर्ग—१. शरीरासन
२. ध्यानासन

खड़े होकर किए जाने वाले आसन

समपाद

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। गर्दन, पृष्ठवश और पैर तक का सारा

शरीर सीधा और समरेखा में रहे, इसका अभ्यास कीजिए। इसमे दोनों पैरो को सटा कर रखिए।

समय—कम से कम तीन मिनट और सुविधानुसार यह घंटों तक किया जा सकता है।

फल—१. शारीरिक धातुओं का साम्य

२. शुद्ध रक्त का संचार

३. मानसिक एकाग्रता।

एकपाद

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। उक्त विधि के अनुसार शरीर के सब अवयवों को समरेखा मे ले आइए। फिर एक पैर को उठाकर सीधा फैला दीजिए। प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन होता है, इसलिए दीवार के सहारे खडे होकर भी यह आसन किया जा सकता है।

समय—प्रारम्भ मे एक या दो मिनट। अभ्यास परिपक्व होने पर सुविधानुसार जितना किया जा सके।

फल—पैर, कमर, जघा, पीठ और गले के स्नायुओं की शुद्धि।

गृध्रोड्डीन

विधि—पैरो को सटाकर सीधे खड़े हो जाइए। फिर कन्धों की समरेखा मे दोनों हाथो को फैला दीजिए। बीच-बीच मे गीध के परो की भाति दोनों भुजाओं को हिलाइए।

समय—इसके समय की निश्चित मर्यादा नहीं है। सुविधानुसार जितना किया जा सके, उतने समय तक यह करणीय है।

फल—१. भुजा के स्नायुओ की शक्ति का विकास।

२. गर्दन के ऊपर के स्नायुओं की पुष्टि।

कायोत्सर्ग

प्रवृत्ति के तीन स्रोत है—काय, वाणी और मन। इसमे मुख्य काय है। वाणी और मन उसके माध्यम से ही प्रवृत्त होते है। काय के स्पन्दनकाल मे वाणी और मन प्रस्फुटित होते है। उसकी अस्पन्द दशा मे वे वि

हो जाते हैं। भाषा और मन के परमाणुओं का ग्रहण काय के द्वारा होता है। फिर उनका भाषा और मन के रूप मे परिणमन होता है और विसर्जन-काल में वे भाषा और मन कहलाते हैं। भाष्यमाणी भाषा होती है, पहले-पीछे नही होती, इसी प्रकार मन्यमान मन होता है, पहले-पीछे नहीं होता।

काय वाणी और मन की प्रवृत्ति का स्रोत है, इसीलिए उसकी निवृत्ति या स्थिरता वाणी और मन की स्थिरता का आधार बनती है। काय का त्याग होने पर वाणी और मन स्वयं त्यक्त हो जाते हैं।

शरीरशास्त्र की दृष्टि से शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति के परिणाम इस प्रकार है—

प्रवृत्ति (श्रम) के परिणाम

१. स्नायुओं मे स्नायु शर्करा कम होती है।
२. लेक्टिक एसिड स्नायुओं में जमा होता है।
३. लेक्टिक एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढती है।
४. स्नायु-तंत्र मे थकान आती है।
५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा कम होती है।

निवृत्ति (आराम) के परिणाम

१. लेक्टिक एसिड का पुन· स्नायु शर्करा मे परिवर्तन होता है।
२. लेक्टिक एसिड का जमाव कम होता है।
३. लेक्टिक एसिड की कमी से उष्णता में कमी होती है।
४ स्नायुतंत्र में ताजगी आती है।
५. रक्त मे प्राणवायु की मात्रा बढती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग कम महत्त्वपूर्ण नही है।

स्नायविक तनाव और कायोत्सर्ग

मन, मस्तिष्क और शरीर मे गहरा सम्बन्ध है। उनकी सामंजस्य-विहीन गति से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वही स्नायविक तनाव है। शरीर और मन की सक्रियता का सन्तुलन रहना, प्रवृत्ति की बहुलता या सकुलता,

मानसिक आवेग—ये उसके मुख्य कारण है। हम जब-जब द्रव्य-क्रिया करते हैं अर्थात् शरीर को किसी दूसरे काम मे लगाते हैं और मन कहीं दूसरी ओर भटकता है, तब स्नायविक तनाव बढ़ता है। हम भावक्रिया करना सीख जाएं—शरीर और मन को एक ही काम में संलग्न करने का अभ्यास कर लें तो स्नायविक तनाव बढ़ने का अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक तनाव के शिकार होते हैं, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से वंचित रहते है। वे लोग अधिक भाग्यशाली है, जो इस तनाव से मुक्त रहते है।

तनाव उत्पन्न करने में भय का भी बडा हाथ है। अध्यात्मवादियो ने उसके सात प्रकार बतलाए है—

१. इहलोक भय—मनुष्य को अपनी ही जाति—मनुष्य से होने वाला भय।

२. परलोक भय—मनुष्य को विजातीय—पशु आदि से होने वाला भय।

३. आदान भय—धन-विनाश का भय।

४. अकस्मात् भय—काल्पनिक भय।

५. आजीविका भय—आजीविका कैसे चलेगी—इस प्रकार का भय।

६. मरण भय—मृत्यु का भय।

७. अश्लाघा भय—अपयश का भय।

ये भय मनुष्य के जीवन मे व्याप्त रहते हैं। इनके द्वारा वह स्नायविक तनाव से वुरी तरह आक्रान्त होकर अशान्तिमय जीवन जीता है। जिसने अभय की आराधना की है, उसे कोई कष्ट नही होता। भयभीत व्यक्ति पल-पल मे कष्ट पाता है। जिसने अभय की आराधना की है, वह जीवन मे एक वार मरता है। भयभीत मनुष्य एक दिन मे कई बार मरता है। भय और हिसा मे गहरा लगाव है। जहा भय है, वहा निश्चित रूप से हिसा है। मन को अभय किए बिना अहिंसा हो ही नहीं सकती।

अनियन्त्रित भय से अनेक रोग उत्पन्न होते है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि वियोग का भय जागृत होने पर मनुष्य स्नायु-विकार से ग्रस्त हो जाता है। वह दूसरो पर अत्याचार करने व उन्हे अपंग वनाने मे रस लेता है।

येल विश्वविद्यालय ने भय से सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। उन्हें पढ़कर हम समझ सकते है कि भय हमारे शरीर और मन को कितना प्रभावित करता है। भय से ये शारीरिक परिवर्तन देखे जाते है—दिल का धडकना, नाड़ी का तेज चलना, मुंह या गला सूखना, कांपना, हथेलियों में पसीना आना और पेट का अन्दर धंसना। मन पर भी गहरी प्रतिक्रियाएं होती हैं। जैसे—विस्मृति, मूर्च्छा और पीडा की तीव्र अनुभूति होना।

स्थानाग सूत्र में असामयिक मृत्यु के सात कारण वतलाए गए है। उनमें भयात्मक अध्यवसाय उसका एक कारण है।

रोग के भय से पीड़ा बढ जाती है। निर्भय रोगी की अपेक्षा भयाक्रान्त रोगी को पीडा की अनुभूति कई गुना अधिक होती है। मानसोपचारको ने रोग-पीडित व्यक्तियो पर शिथिलीकरण के प्रयोग किए। उनसे उनकी पीडा मे बहुत अन्तर आया। भय से स्नायविक तनाव बढ़ता है। उससे पीड़ा तीव्र हो जाती है और कायोत्सर्ग से वह कम होता है, तब पीड़ा भी कम हो जाती है।

क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, शोक आदि मानसिक आवेगों से भी स्नायविक तनाव बढ़ता है। कायोत्सर्ग से उन आवेगो का शमन होता है और फलत· स्नायविक तनाव अपने आप दूर हो जाता है।

कायोत्सर्ग की विधि

कायोत्सर्ग बैठी, खड़ी और सोयी—तीनो मुद्राओं मे किया जा सकता है। इसकी पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सुखासन या पद्मासन लगाकर या पालथी बाधकर वैठ जाइए। दोनो हाथो को या तो घुटनो पर टिकाइए या वायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर उन्हे अंक मे रखिए। फिर पृष्ठवंश (रीढ की हड्डी) और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमें न झुकाव हो और न तनाव हो। वे शिथिल भी रहें और सीधे-सरल भी। फिर दीर्घश्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्वाइए जितना विना किसी कष्ट के लम्वा सके। इससे शरीर और मन दोनो के शिथिलीकरण मे वडा सहारा मिलेगा।

आठ-दस बार दीर्घ श्वास लेने के बाद वह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण मे मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने आप हो जाता है। फिर विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव में टिकाइए, जिसे आप शिथिल कर रहे है। अवयवों को शिथिल करने का क्रम यह रखिए—गर्दन, कन्धा, छाती, पेट—दायें, बायें, पृष्ठभाग, भुजा, हाथ, हथेली, अंगुली, कटि, टांग, पैर-अगुली। फिर मासपेशियो को शिथिल कीजिए। मन से शरीर के भाग और मांसपेशियो का अवलोकन कीजिए। इस प्रकार अवयवो और मांसपेशियो के शिथिलन के बाद स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद और सूक्ष्म शरीर से दृढ सम्बन्ध-स्थापन का ध्यान कीजिए।

सूक्ष्म शरीर दो है—

१. तैजस

२. कार्मण

तैजस शरीर विद्युत् का शरीर है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति की प्राप्ति का यह प्रबल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास कीजिए।

इस भूमिका मे ममत्व-विसर्जन हो जाएगा। शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्रान्ति विसर्जित हो जाएगी।

यदि आप खड़ी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सीधे खडे हो जाइए। दोनो हाथो को घुटनो की ओर लटकाकर उन्हें ढीला छोड़ दीजिए। पैरो को समरेखा में रखिए और दोनों पंजों में चार अगुल का अन्तर रखिए। शेष सारे अंगो को स्थिर रखिए और शिथिल कीजिए। किसी भी अंग में तनाव मत रखिए।

यदि आप सोयी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले तानिए, फिर क्रमश· उन्हें शिथिल कीजिए। हाथो और पैरो को परस्पर सटाए हुए मत रखिए। श्वास-उच्छ्वास समभाव से किन्तु लम्बा लीजिए। मन को श्वास-उच्छ्वास में लगाकर एकाग्र या विचारशून्य हो जाइए।

मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। प्रयत्न से चंचलता बढती है। स्थिरता अप्रयत्न से आती है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए जितना किया जा सके। वह प्रतिदिन आधा घंटा शिथिल हो सके तो मन अपने आप शान्त होने लगता है। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो। यह न हो सके तो ॐ, अर्हम् जैसे किसी शब्द का ऐसा प्रवाह हो कि बीच मे कोई दूसरा विकल्प न आए। श्वास की गिनती करने से यह स्थिति सहज ही बन जाती है।

कायोत्सर्ग के प्रारम्भ में इन संकल्पो को दोहराइए—

१. शरीर शिथिल हो रहा है।
२. श्वास शिथिल हो रहा है।
३. स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है।
४. तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है।
५. कार्मण शरीर (वासना-शरीर) भिन्न हो रहा है।
६ ममत्व-विसर्जन हो रहा है।
७. मै आत्मस्थ हो रहा हूं।

कायोत्सर्ग का कालमान

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम से कम पन्द्रह-वीस मिनट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्ग मे मन को श्वास मे लगाया जाता है, इसलिए उसका कालमान श्वास की गिनती से भी किया जा सकता है, जैसे सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, दो सौ, तीन सौ, पाच सौ, हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग आदि-आदि।

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग का मुख्य फल है—आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। उसका गौण फल है—मानसिक सन्तुलन, वौद्धिक विकास और शारीरिक स्वस्थता। मानसिक स्वस्थता, स्नायु-तनाव व कफ से उत्पन्न रोगों के लिए

यह अमूल्य रसायन है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पांच फल बताए है—

१ दैहिक जड़ता की शुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष मिट जाते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

२. बौद्धिक जड़ता की शुद्धि—कायोत्सर्ग मे चित्त एकाग्र होता है। उससे बौद्धिक जड़ता नष्ट हो जाती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुख सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

४. शुद्ध भावना का अभ्यास होता है।

५. ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

बैठकर किए जाने वाले आसन

गोदोहिका

विधि—घुटनो को ऊंचा रखकर पजो के बल पर बैठ जाइए। दोनो हाथो को दोनो ऊरुओ (साथलो) पर टिका दीजिए। यह गाय को दोहने को मुद्रा है, इसलिए इसका नाम गोदोहिका है।

समय—दीर्घकाल।

फल—कामवाहिनी नाडियो पर दवाव पडने के कारण यह ब्रह्मचर्य मे सहायक होता है।

भगवान् महावीर इस आसन में ध्यान किया करते थे।

उत्कटुकासन

विधि—दोनो पैरो को भूमि पर टिका दीजिए और दोनो पुतो को भूमि से न छुआते हुए जमीन पर बैठ जाइए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१. ब्रह्मचर्य मे सहायक।

२. इसमे बैठे-बैठे पवनमुक्तासन की क्रिया हो जाती है, इसलिए यह वातरोग में भी लाभ पहुंचाता है।

समपादपुता

विधि—दोनों पैरों और पुतो को समरेखा मे भूमि से सटाकर बैठ जाइए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१. ब्रह्मचर्य में सहायक।

२ वातरोग में लाभकारी।

गोनिषधिका

विधि—बाएं पैर की एड़ी को ऊरु से सटाकर बैठ जाइए और दाये पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोड़ते हुए पीछे की ओर ले जाइए। दूसरी आवृत्ति में दाये पैर की एड़ी को ऊरु से सटाकर बैठ जाइए औ बायें पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोडते हुए पीछे की ओर ले जाइए। यह गाय के बैठने का आसन है, इसलिए इसे गोनिषधिका कह जाता है।

समय—दीर्घकाल।

फल—ब्रह्मचर्य मे सहायक।

हस्तिशुण्डिका

विधि—पुतो के सहारे बैठकर क्रमशः एक-एक पैर को ऊपर उठाक अधर मे रखिए।

समय—एक मिनट से पांच मिनट तक।

फल—१. कटिभाग से नीचे के अवयवो में शक्ति का सचार होत है।

२. वीर्य-दोष नष्ट होते है।

कुछ योगाचार्य इसे खडा होकर किया जाने वाला आसन मानते है उसकी प्रक्रिया यह है।

विधि—सीधे खडे रहिए। सिर को घुटनों की ओर नीचे ले जाइए दोनों हाथ जोड़कर हाथी की सूड की भांति दोनों पैरो के वीच मे जितन ले जा सके, ले जाए।

समय—एक से पांच मिनट तक।

फल—पेट, पीठ, छाती, ग्रीवा और पैरो के विकार दूर होते है।

पद्मासन

विधि—पहले बायें पैर को दायें ऊरु और जंघा की सन्धि पर और दाये पैर को बायें ऊरु और जंघा की सन्धि पर रखिए। फिर दूसरी विधि के अनुसार पहले दायां पैर और फिर बायां पैर उसी पद्धति से रखिए। बायीं हथेली पर दायी हथेली रखकर उन्हें नाभि के नीचे रखिए। इस स्थिति मे बैठने पर पृष्ठ-रज्जु और गर्दन अपने आप सीधे हो जाते है। आंखों को मुंदी हुई या अधमुदी हुई रखिए।

समय—अभ्यास करते-करते इसे तीन घंटे तक ले जाइए। यह उससे भी अधिक समय तक किया जा सकता है किन्तु तीन घंटे का अभ्यास कर लेने पर यह सध जाता है।

फल—१. यह मुख्यतः ध्यानासन है। इससे शारीरिक धातुएं सम होती है, इसलिए यह मन की एकाग्रता मे सहायक बनता है।

२. जघा, ऊरु आदि के स्नायु सशक्त होते हैं।

३. इन्द्रिय-विजय मे सहायता मिलती है।

पद्मासन के विविध रूप

१. बद्धपद्मासन

विधि—दाये पैर का बायें ऊरु और बायें पैर को दायें ऊरु पर रखिए। एडियों को नाभि के नीचे के भाग से सटा दीजिए। दोनो हाथो को पीछे ले जाकर दायें हाथ की मध्यवर्ती तीन अंगुलियों से दाये पैर का और बाएं हाथ की मध्यवर्ती तीन अंगुलियों से बाये पैर का अंगूठा पकड़िए। पेट को थोडा-सा अन्दर ले जाइए और सीने को कुछ आगे की ओर उभारिए। फिर दीर्घ श्वास लीजिए।

समय—शारीरिक शक्ति के अनुसार आधा घंटा तक इसका अभ्यास किया जा सकता है।

फल—१. फेफड़ों की शुद्धि।

२. कटि के स्नायुओं की सशक्तता।

३. इसके साथ मूलबन्ध करने से वीर्य-दोपों की शुद्धि।

४. उदर रोगो का शमन।

२. योगमुद्रा

विधि—दायें पैर को बायें ऊरु पर रखिए और एडी को नाभि से सटा दीजिए। बायें पैर को दायें ऊरु पर रखिए और एडी को नाभि से सटा दीजिए। फिर दायें हाथ को पीछे ले जाकर फैला दीजिए और बाये हाथ को पीछे ले जाकर उससे दायें हाथ की कलाई को पकड़िए। आगे झुककर ललाट से भूमि का स्पर्श कीजिए।

समय—एक मिनट से आधा घंटा तक।

फल—१. कोष्ठबद्धता दूर होती है।

२. ब्रह्मचर्य में सहायक।

३. सोड्डीयान पद्मासन

विधि—पद्मासन में बैठकर, श्वास का रेचन कर, बहिःकुंभक की स्थिति में उड्डीयान बन्ध कीजिए—पेट को भीतर ले जाइए और फिर फुलाइए। एक कुम्भक में दस आवृत्तियां की जाए तो दस बार मे उसकी सौ आवृत्तियां हो जाती हैं। इस क्रिया मे नाभि जितनी पृष्ठ-रज्जु की ओर जा सके, उतनी ले जानी चाहिए।

फल—उदर रोगों पर आश्चर्यकारी प्रभाव।

४. अर्धपद्मासन

विधि—बाये या दायें किसी एक पैर को पद्मासंन की मुद्रा मे रखने से अर्धपद्मासन हो जाता है।

समय—पद्मासन की तरह।

फल—पद्मासन की तरह।

५. ऊर्ध्वपद्मासन

विधि—सर्वांगासन या शीर्षासन के साथ पद्मासन करने से ऊर्ध्व पद्मासन हो जाता है।

समय—अभ्यास करते हुए आधा घंटा तक।

फल—१. वीर्य का ऊर्ध्वाकर्पण।

२. मन की एकाग्रता।

६. उत्थित पद्मासन

विधि—पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को भूमि पर टिकाइए और शरीर को भूमि से ऊपर उठाइए।

समय—दो-तीन मिनट।

फल—१. पद्मासन के लाभ।

२. हथेली के स्नायुओं की सशक्तता।

इसे दोलासन या लोलासन भी कहा जाता है। कुछ आचार्यो ने पद्मासन को पर्यकासन और अर्धपद्मासन को अर्धपर्यकासन माना है।

वीरासन

विधि—बद्ध पद्मासन की तरह दोनों पैरों को रखिए और हाथों को पद्मासन की तरह रखिए।

समय—क्रमशः तीन घंटे तक बढ़ाएं।

फल—धैर्य, सतुलन और कष्ट सहने की क्षमता का विकास।

कुछ आचार्यो ने कुर्सी पर बैठकर उसे निकाल देने पर जो मुद्रा बनती है, उसे वीरासन माना है।

सुखासन

विधि—किसी एक पैर को वृषण के पास ऊरु के निम्नवर्ती भाग से सटाकर बैठिए और दूसरे पैर को जंघा और ऊरु के बीच मे रखिए। दूसरी वार में पैरों का क्रम बदल दीजिए।

समय—यह ध्यानासन है, इसलिए चाहे जितने समय तक किया जा सकता है।

फल—कामवाहिनी नाडी पर नियंत्रण।

कुक्कुटासन

विधि—पद्मासन में बैठकर ऊरु और जंघा के बीच में दोनों हाथो को कोहनी तक नीचे ले जाइए और हथेलियो को भूमि पर टिका दीजिए तथा उनके बल पर सारे शरीर को ऊपर उठाइए।

समय—एक मिनट से पांच मिनट तक।

फल—१. स्नायविक दुर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाला क्रोध और मोह का विकार नष्ट हो जाता है।

२. स्नायु पुष्ट होते हैं।

३. मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है।

४. कामवासना पर विजय प्राप्त होती है।

सिद्धासन

विधि—बायें पैर की एड़ी को गुदा और सीवन के बीच में रखिए और दायें पैर की एड़ी को इन्द्रिय के ऊपर स्थापित कीजिए। हाथों की मुद्रा पद्मासन की भांति कीजिए।

समय—एक मिनट से तीन घंटा।

फल—वीर्य-शुद्धि।

भद्रासन

विधि—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठिए। बाद में पैरों के तलों को संपुटित कीजिए—परस्पर मिलाइए। फिर उन्हे उपस्थ के समीप रखिए जिससे पैरो के अंगूठे भूमि पर और एडियां नाभि के समीप आ जाए। फिर पैरों को धीमे-धीमे घुमाइए जिससे पैरों की अंगुलियां नितम्बो के नीचे चली जाये और एड़ियां वृषण-ग्रन्थियों के नीचे सामने की ओर दीखें। दोनो हथेलियों को घुटनो पर टिकाइए।

समय—पाच मिनट से आधा घटा।

फल—कार्य करने की रुचि उत्पन्न होती है।

वज्रासन

विधि—घुटनों को मोड़कर पीछे की ओर ले जाइए जिससे दोनों ऊरु और जंघाएं ऊपर-नीचे हो जाएं। घुटने से अगुलियों तक का भाग जमीन को छूते हुए रहना चाहिए।

समय—दस-पन्द्रह मिनट किए विना इसका परिणाम प्राप्त नही होता। विशेष लाभ के लिए इसे लम्बे समय तक करना चाहिए।

फल—१. भोजन के पश्चात् पन्द्रह मिनट तक वज्रासन करने से पाचन शक्ति बढ़ती है।

२. अपानवायु की शुद्धि।
३. वीर्य-दोष की शुद्धि।
४. घुटनों और पैरो के स्नायुओं की सशक्तता।

मत्स्येन्द्रासन

विधि—बायें पैर का पजा दायें ऊरु के मूल में रखिए और एड़ी को पेडू से सटाइए। फिर दायें पैर को बाये घुटने से आगे ले जाइए। बाये हाथ को दाये घुटने के ऊपर से ले जाकर अगुलियों से उसका अंगूठा पकडिए। दायें हाथ को पीठ की ओर ले जाकर उससे बायें पैर की एड़ी पकडिए। मुंह और पीठ के भाग को जितना मोड़ सकें, उतना पीछे की ओर ले जाइए। धीमे-धीमे श्वास लीजिए। दूसरी आवृत्ति मे पैरों और हाथो का क्रम बदल दीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—पृष्ठ-रज्जु के स्नायुओ की शुद्धि।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

जब बायें पैर की एडी को गुदा और सीवन के बीच रख कर दाये पैर को पूर्ववत् बाये घुटने से आगे ले जाकर रखा जाता है, दाये हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर बाये ऊरु के मूल में स्थापित किया जाता है और शेष क्रिया पूर्ववत् की जाती है तब अर्धमत्स्येन्द्रासन हो जाता है। दूसरी आवृत्ति मे पैरो और हाथो का क्रम बदल देना चाहिए। अर्धमत्स्येन्द्रासन का समय और फल पूर्ववत् है। मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा फल की मात्रा इसमे कम होती है।

पश्चिमोत्तानासन

विधि—सीधे वैठकर दोनों पैरो को आगे की ओर समरेखा मे फैलाइए। फिर श्वास का रेचन कर शरीर को आगे की ओर झुकाते हुए दोनों हाथो की अगुलियों से पैरो के अगूठों को पकड़िए और सिर को दोनों घुटनों के वीच में टिका दीजिए।

समय—इस आसन की सिद्धि आधा घंटा तक करने से होती है।

फल—१. मन्दाग्नि आदि उदर रोगो का शमन।
२. हर्निया की वीमारी में लाभकारी।

महामुद्रा

विधि—किसी एक पैर की एड़ी सीवन और गुदा के मध्य भाग मे लगाइए तथा दूसरे पैर को सीधा फैला दीजिए। श्वास बाहर निकालिए। उड्डीयान बन्ध कीजिए। सिर घुटने पर टिकाइए। दूसरे पैर से भी वैसी ही पुनरावृत्ति कीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्याशय तथा पाचनयंत्र की दृढता।

संप्रसारण भूनमनासन

विधि—सीधे बैठकर पैरों को यथाशक्ति फैलाइए। हाथों से पैरो के अंगूठे पकड़कर सिर को भूमि पर रखिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्याशय की दृढ़ता।

कन्दपीड़नासन

विधि—सीधे पैर के पंजे को जमीन पर टेक एडी को सीवन तथा गुदा से सटाइए। बाएं पैर को दाएं घुटनों पर रखिए। दोनों हाथो से दोनो कमर के पार्श्वो को पकडिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—वीर्य-वाहिनी नाड़ियो की शुद्धि।

लेटकर किए जाने वाले आसन

दण्डायतशयन

विधि—दण्ड की तरह सीधे लेट जाइए। दोनों पैरों को परस्पर सटा दीजिए तथा दोनों हाथों को पैरों से सटा दीजिए।

समय—कम से कम पांच मिनट और सुविधानुसार घंटो तक किया जा सकता है।

फल—दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

आम्रकुब्जिकाशयन

विधि—भूमि पर किसी भी पार्श्व से लेट जाइए। सिर और पैरो को कुछ आगे की ओर निकालिए। इसमें दोनो ओर से नीचे की ओर झुके हुए आम की भाति कुछ कुब्ज-आकार हो जाता है।

समय—दीर्घकाल

फल—पार्श्व के स्नायुओ की शुद्धि।

उत्तानशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले ताने और फिर क्रमशः उन्हे शिथिल कीजिए। सममात्रा मे तथा दीर्घ श्वास-उच्छ्वास लीजिए। मन को श्वास और उच्छ्वास में लगाकर एकाग्र, स्थिर और विचारशून्य हो जाइए। हाथो और पैरों को अलग-अलग रखिए।

समय—दीर्घकाल।

फल—दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

इसे सुप्त कायोत्सर्ग या शवासन भी कहते हैं।

अवमस्तकशयन

विधि—औधे मुख लेट जाइए। हाथो और पैरों को उत्तानशयन की भाति रखिए।

समय—पांच मिनट।

फल—वायु व उदर दोषो की शुद्धि।

एकपार्श्वशयन

विधि—वाये या दायें किसी एक पार्श्व से लेट जाइए और उस पार्श्व के हाथ को सिर के नीचे रखिए।

समय—दीर्घ काल।

फल—१. वीर्य की सुरक्षा।

२. स्वप्नदोष से बचने का सुन्दर उपाय।
३. बाये पार्श्व सोने से पाचनक्रिया ठीक होती है और सहज ही रात्रिकाल में सूर्यस्वर चालू रहता है।
४. दायें पार्श्व सोने से वायु-शुद्धि होती है।

ऊर्ध्वशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। नाभि से ऊपर के अथवा नीचे के भाग को ऊंचा उठाइए।

समय—तीन से पांच मिनट।

फल—१. कटि भाग तथा उसके नीचे और ऊपर के भागों की पेशियों पर प्रभाव होता है।
२. शुक्र-ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं।

लकुटासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। लकुट (वक्र काष्ठ) की भाति एडियों और सिर को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाइए।

पीठ को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोने को भी लकुटासन कहा जाता है।

समय—तीन से पांच मिनट।

फल—१. कटि के स्नायुओ की शुद्धि।
२. उदर-दोषो की शुद्धि।

मत्स्यासन

विधि—पद्मासन लगाकर लेट जाइए। दोनो हाथो से दोनों पैरों के अगूठे पकड़िए। सीने को ऊपर की ओर उठाकर सिर को जितना पीछे की ओर ले जा सकें, ले ज़ाकर भूमि पर टिकाइए।

दूसरे प्रकार मे जालन्धर वन्ध भी किया जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट तक।

फल—पहली विधि :
१. उदर के स्नायुओं पर प्रभाव होता है।

२. कोष्ठबद्धता मिटती है।
३. गर्दन के स्नायु पुष्ट होते हैं।
४. फेफडों का व्यायाम होता है।
दूसरी विधि :
गले और मस्तिष्क पर प्रभाव होता है।

पवनमुक्तासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। बायें पैर को उठाकर उसे मोडते हुए उससे बायें वक्ष को दबाइए। फिर उसे सीधा कर दीजिए। दायें पैर से भी उसी क्रिया को दोहराइए। फिर दोनों पैरों से एक साथ वक्ष के दोनों पार्श्वो को दबाइए। फिर दोनों पैरो को फैला दीजिए। यह बैठकर भी किया जा सकता है।

समय—पांच से पन्द्रह मिनट तक।

फल—१. अपान वायु की शुद्धि।
२. वायु (गैस) का ऊर्ध्वगामी होना बद हो जाता है।

भुजंगासन

विधि—भूमि पर पेट के बल लेट जाइए। दोनों हाथो के पंजो को पेट के दोनो पार्श्वो से सटाते हुए भूमि पर टिकाइए। फिर हाथो को वक्ष के पास लाकर पूरक करते हुए नाभि के ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाते हुए सर्प के फण की मुद्रा मे हो जाइए।

समय—उक्त मुद्रा मे एक-दो मिनट कुम्भक के साथ रहिए। फिर श्वास का रेचन करते हुए धीमे-धीमे औधा लेटने की मुद्रा मे आ जाइए।

फल—१. स्वप्न-दोष मिटता है।
२. वीर्य शुद्ध होता है।
३. प्राणायाम से होने वाले लाभ भी सहज प्राप्त हो जाते हैं।

धनुरासन

विधि—भूमि पर पेट के वल लेट जाइए। पैरो को घुटनो के पास

मोड़ते हुए पीछे ऊपर की ओर ले जाइए। दोनो हाथों को पीछे की ओर फैलाते हुए उनसे दोनों पैरों के टखनों के पास का भाग पकड़िए। भुजंगासन की भांति नाभि से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाइए।

समय—एक से पांच मिनट।

फल—यकृत, प्लीहा और उदर के रोग शान्त होते है।

विपरीत क्रिया

सर्वांगासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। फिर धीमे-धीमे दोनो पैरो, सक्थियो (ऊरुओ) तथा गर्दन तक के शरीर को ऊपर की ओर ले जाइए। दोनों हथेलियो से कमर को हल्का-सा सहारा दीजिए।

समय—दो मिनट से आधा घंटा।

फल—१. मस्तिष्क और हृदय के स्नायुओं की शुद्धि।

२. उदर रोगो का शमन।

३. वीर्य-दोषो की शुद्धि।

४. कण्ठमणि पर दवाव पड़ने के कारण उसका समुचित स्राव होता है।

सर्वांगासन मे पैरो को पीछे की ओर मोडकर भूमि से सटा देने पर हलासन हो जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट।

फल—१. पृष्ठरज्जु लचीला होता है।

२. अग्नि प्रदीप्त होती है।

सर्वांगासन मे पैरों को मोड़कर दोनों कानों के पास सटा देने पर कर्णपीड़नासन हो जाता है।

समय— सुविधानुसार।

कर्णपीडनासन का उपयोग ध्यान के लिए भी किया जा सकता है।

शीर्षासन

विधि—दोनो घुटनो के वल वैठकर दोनो हथेलियों को एक दूसरे से वांधकर उन्हे भूमि पर टिकाइए। अथवा किसी मोटे कपडे को नीचे रखिए।

उन पर सिर को रखकर समूचे शरीर को ऊपर की ओर ले जाकर टिका दीजिए। प्रारम्भ में यह भींत आदि के सहारे किया जा सकता है। अभ्यास होने पर सहारे की अपेक्षा नहीं होती।

समय—एक-दो मिनट से आधा घंटा।

फल—समूचे शरीर पर प्रभाव होता है। मस्तिष्क, वीर्य और पाचन संस्थान पर विशेष प्रभाव होता है।

पित्त-प्रधान प्रकृति वालों के लिए यह आसन हितकर नहीं होता। उससे नेत्र-विकार होने की सभावना रहती है।

ध्यानासन

ध्यानासन मुख्य पांच हैं।

१. गोदोहिका
२. सिद्धासन
३. पद्मासन
४. सुखासन
५. कायोत्सर्ग :

इनके अतिरिक्त शेष सब मुख्य रूप से शरीरासन हैं।

शरीरासन

शरीरासन शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि की शक्ति को विकसित करने के लिए किए जाते हैं।

आसनों का वर्गीकरण

स्वास्थ्य के मूल तत्त्व हैं :

१. वीर्याशय की शुद्धि।
२. नाडी-संस्थान की शुद्धि।
३. पाचन-संस्थान की शुद्धि।
४. वायु-शुद्धि।
५. उत्सर्ग-शुद्धि।

वीर्याशय की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

मोडते हुए पीछे ऊपर की ओर ले जाइए। दोनों हाथों को पीछे की ओर फैलाते हुए उनसे दोनों पैरो के टखनों के पास का भाग पकड़िए। भुजंगासन की भांति नाभि से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाइए।

समय—एक से पांच मिनट।

फल—यकृत, प्लीहा और उदर के रोग शान्त होते हैं।

विपरीत क्रिया

सर्वांगासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। फिर धीमे-धीमे दोनों पैरो, सक्थियो (ऊरुओं) तथा गर्दन तक के शरीर को ऊपर की ओर ले जाइए। दोनो हथेलियो से कमर को हल्का-सा सहारा दीजिए।

समय—दो मिनट से आधा घंटा।

फल—१. मस्तिष्क और हृदय के स्नायुओ की शुद्धि।
२. उदर रोगों का शमन।
३. वीर्य-दोषों की शुद्धि।
४. कण्ठमणि पर दबाव पडने के कारण उसका समुचित स्राव होता है।

सर्वांगासन मे पैरो को पीछे की ओर मोडकर भूमि से सटा देने पर हलासन हो जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट।

फल—१. पृष्ठरज्जु लचीला होता है।
२. अग्नि प्रदीप्त होती है।

सर्वांगासन में पैरो को मोड़कर दोनो कानो के पास सटा देने पर कर्णपीडनासन हो जाता है।

समय– सुविधानुसार।

कर्णपीड़नासन का उपयोग ध्यान के लिए भी किया जा सकता है।

शीर्षासन

विधि—दोनो घुटनो के बल बैठकर दोनो हथेलियो को एक दूसरे से बांधकर उन्हे भूमि पर टिकाइए। अथवा किसी मोटे कपडे को नीचे रखिए।

उन पर सिर को रखकर समूचे शरीर को ऊपर की ओर ले जाकर टिका दीजिए। प्रारम्भ में यह भीत आदि के सहारे किया जा सकता है। अभ्यास होने पर सहारे की अपेक्षा नहीं होती।

समय—एक-दो मिनट से आधा घंटा।

फल—समूचे शरीर पर प्रभाव होता है। मस्तिष्क, वीर्य और पाचन संस्थान पर विशेष प्रभाव होता है।

पित्त-प्रधान प्रकृति वालों के लिए यह आसन हितकर नहीं होता। उससे नेत्र-विकार होने की संभावना रहती है।

ध्यानासन

ध्यानासन मुख्य पांच हैं।

१. गोदोहिका
२. सिद्धासन
३. पद्मासन
४. सुखासन
५. कायोत्सर्ग :

इनके अतिरिक्त शेष सब मुख्य रूप से शरीरासन हैं।

शरीरासन

शरीरासन शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि की शक्ति को विकसित करने के लिए किए जाते है।

आसनों का वर्गीकरण

स्वास्थ्य के मूल तत्त्व है :

१. वीर्याशय की शुद्धि।
२. नाड़ी-संस्थान की शुद्धि।
३. पाचन-संस्थान की शुद्धि।
४. वायु-शुद्धि।
५. उत्सर्ग-शुद्धि।

वीर्याशय की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. भुजंगासन

२. संप्रसारण-भूनमनासन

३. कन्दपीड़नासन

४. कुक्कुटासन

५. योगमुद्रा

६. मत्स्येन्द्रासन

७. महामुद्रा।

नाड़ी-संस्थान की शुद्धि के लिए आसन

१. कुक्कुटासन

२. वीरासन।

पाचन-संस्थान की शुद्धि के लिए आसन

१. सुप्त पद्मासन (पद्ममासन में लेटना)

२. अर्धलकुटासन (पैरो को ऊपर उठाए रखना)

३. महामुद्रा

४. योगमुद्रा

५. मत्स्येन्द्रासन

६. सोड्डीयान पद्मासन

७. पश्चिमोत्तानासन

८. धनुरासन

६. सर्वांगासन।

वायु-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. पवनमुक्तासन

२. उत्थितपद्मासन।

ये श्वास-शुद्धि के लिए भी उपयोगी हैं।

उत्सर्ग-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. सोड्डीयान पद्मासन

२. वद्धपद्मासन

३. मुष्टियुक्तयोगमुद्रा (योगमुद्रा में दोनो मुट्ठियो को एडियों के पास सटाकर वैठना)

४. अर्धलकुटासन (उचित पादासन)।

शरीर के विभिन्न अवयवों की उपयोगिता की दृष्टि से भी आसनों के कुछ वर्गीकरण किए जा सकते हैं।

सिर, नाक, कान और आंख के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वांगासन

२. ऊर्ध्वपद्मासन

गर्दन और कन्धो के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वांगासन

२. हलासन

३. मत्स्यासन

४. जालंधरबन्ध।

छाती, फेफड़े और हृदय के लिए उपयोगी आसन :

१. भुजंगासन

२. धनुरासन

३. पवनमुक्तासन

४ प्राणायाम।

हाथ और पैर के लिए उपयोगी आसन :

१ उत्थित पद्मासन

वृषण-वृद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१. सर्वांगासन

२. शीर्षासन

आसन सम्बन्धी सामान्य निर्देश

१. आसनकाल में मन तनाव से मुक्त रहना चाहिए। शारीरिक तनाव मानसिक तनाव से पैदा होता है। मन जितना खाली होगा, उतना ही शरीर तनावमुक्त होगा अर्थात् आसन के प्रायोग्य होगा।

२. जिस अवयव-सम्वन्धी आसन करें, उसी अवयव में मन को टिकाए रखें।

३. श्वास दीर्घ और मंद ले। मन की गति आसन से सम्बन्धित अवयव पर होती है तो श्वास का अन्तःप्रवाह मुख्य रूप से उस अवयव की ओर सहज ही हो जाता है।

४. आसन का प्रयोग शुद्ध हवा में करना चाहिए।

५. पद्मासन-सुखासन जैसे मृदु आसनों को छोडकर शेष अधिकाश आसन भोजन के पश्चात् तीन घंटे से पहले नही करने चाहिए। कठोर आसन करने के पश्चात् आधे घंटे से पहले भोजन नहीं करना चाहिए।

साधारणतया शौच से निवृत्त होने के पश्चात् प्रात.काल में आसन करना अति उपयुक्त है अथवा रात्रिकाल में।

६. आसन करने वाले को डटकर भोजन नहीं करना चाहिए। उसका भोजन सात्त्विक होना चाहिए।

७. आसन के पश्चात् उसका प्रतिलोम आसन अवश्य करना चाहिए। जैसे—

अनुलोम	**प्रतिलोम**
सर्वागासन	मत्स्यासन
भुजंगासन	पश्चिमोत्तानासन

प्रतिलोम आसन की काल-मर्यादा अनुलोम आसन से आधी होनी चाहिए। यदि दस मिनट सर्वागासन हो तो मत्स्यासन पांच मिनट करना चाहिए।

८. प्रत्येक आसन के पश्चात् एक मिनट का उत्तानशयन (शवासन) करना चाहिए और आसन के पूरे क्रम की समाप्ति पर उक्त आसन पांच मिनट से पन्द्रह मिनट तक करना चाहिए।

६. आसन-काल मे कसा हुआ वस्त्र, जो रक्त संचार मे वाधा डाले, नही पहनना चाहिए किन्तु कोपीन आवश्यक है।

१०. हर आसन के साथ मूल-वन्ध अवश्य करना चाहिए।

आसन का सामान्य प्रयोजन

भगवान् महावीर ने आसन को तप का एक प्रकार वतलाया है। उनकी भाषा मे आसन का नाम कायक्लेश है। आसन के द्वारा शरीर को कुछ कष्ट होता है। उस कष्ट से मानसिक धैर्य और सहिष्णुता का विकास होता है। यह आसन का आध्यात्मिक लाभ है।

आसन के द्वारा धमनियो मे रक्त का संचार उचित प्रकार से होता है। अवस्था के साथ हृदय की धमनिया कठोर और सकरी होती जाती

हैं। उन्हें रोकने का उपाय आसन के द्वारा समुचित मात्रा में रक्त पहुंचाते रहना है। इस प्रकार आध्यात्मिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से आसन मूल्यवान है।

जैन साधना पद्धति में आहारविजय, आसनविजय और निद्राविजय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आहार और निद्रा—ये दोनो शरीर की अनिवार्य आवश्यकताएं है। आहार के विना जैसे शरीर शक्तिशाली और स्वस्थ नही रहता वैसे ही निद्रा के बिना वह स्वस्थ और कार्यक्षम नहीं रहता। आहार के लिए जैसे मात्रा का प्रश्न है, वैसे ही निद्रा के लिए भी मात्रा का प्रश्न है। आहार के लिए जैसे सामान्य नियम है—जितनी भूख उतना भोजन, वैसे ही निद्रा के लिए भी सामान्य नियम यह है—जितनी जरूरत उतनी नीद। निद्राविजय का अर्थ निद्रा को कम करना नहीं है किन्तु निद्रा की जरूरत को कम करना है। शरीर मे जितना विष जमा होता है उसे शरीर निकालता है। उसे निकालने की एक प्रक्रिया निद्रा है। प्रवृत्ति जितनी अधिक और उत्तेजित होती है। उतनी ही निद्रा की जरूरत अधिक होती है। वह जितनी कम और शान्त होती है उतनी ही निद्रा की जरूरत कम हो जाती है। निद्रा के लिए ऐसा कोई स्थूल नियम नहीं बनाया जा सकता कि छह घंटा ही सोना है अथवा उससे कम या अधिक सोना है। मानसिक विश्राम, मन की स्थिरता और निर्विकल्पता से नींद की जरूरत अपने-आप कम हो जातीं है। हठपूर्वक निद्रा को कम करने का प्रयत्न शरीर और मन—दोनों के लिए हितकर नहीं होता। नींद लेने के वाद शरीर हल्का, मन प्रसन्न और इन्द्रियां कार्यक्षम हो तो समझना चाहिए कि नींद पर्याप्त ली गई है। कायोत्सर्ग या शिथिलीकरण के समय जो विश्रान्ति होती है, वह कई घंटों की नीद का काम कर देती है। वह सूत्र स्मृति मे रखना होगा कि निद्राविजय का अर्थ है निद्रा की आवश्यकता का अल्पीकरण।

१२. वाचां संवरणं मौनम् ॥

१२. वाणी के सवरण को मौन कहा जाता है। यह वचन-गुप्ति है। पहले काय की गुप्ति होती है, फिर वचन की गुप्ति होती है, तत्पश्चात् मन की गुप्ति होती है।

मौन

चंचलता का बहुत बड़ा हेतु वाणी है। यदि वाणी नही होती तो हमारा दूसरों के साथ सम्पर्क नही होता। हम एक-दूसरे से कटे हुए होते। उस कटाव की स्थिति मे या पारस्परिक सम्बन्धों के अभाव की स्थिति में हमारी प्रवृत्तियां सीमित हो जाती हैं। फलतः हमारी चंचलता मिट जाती है। पूज्यपाद ने लिखा है कि जन-सम्पर्क में वाणी का प्रयोग होता है। उससे चंचलता बढती है। मानसिक स्थिरता चाहने वाला व्यक्ति वचन की स्थिरता नहीं करता तो इसका अर्थ होगा कि उसकी मानसिक स्थिरता की चाह वास्तविक नहीं है।

जब भाषा गौण होती है और मन प्रधान होता है तब हम चिंतन की स्थिति में होते हैं और जब मन गौण होता है और भाषा प्रधान होती है तब हम बोलने की स्थिति में होते हैं। जब भाषा और मन अलग-अलग हो जाते है तब हम ध्यान की स्थिति में होते हैं।

प्रयोजन के बिना न बोलना वाणी की प्रवृत्ति नही है, फिर भी प्रस्तुत प्रकरण मे उसे मौन कहना इष्ट नहीं है। मौन के पीछे न बोलने का दृढ मानसिक संकल्प होना चाहिए। यह संकल्प ही उसकी विशेषता है। मौनकाल में दोनो होंठ मिले हुए रहने चाहिए। उदान वायु पर विजय पाने का यह वहुत महत्त्वपूर्ण उपाय है। बोलने से शक्ति क्षीण होती है। मौन के द्वारा सहज ही उससे बचाव हो जाता है। इस प्रकार मौन अनेक मार्गो से मन की एकाग्रता में सहायक होता है।

१३. इन्द्रिय-कषायनिग्रहो विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता ॥

१४. इन्द्रियाणां विषय-प्रचारनिरोधो विषय-प्राप्तेषु अर्थेषु राग-द्वेष- निग्रहश्च इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता ॥

१५. क्रोधादीनां उदय-निरोधस्तेषामुदय प्राप्तानां च विफलीकरणं कषाय-प्रतिसंलीनता ॥

१६. ऐकाग्र्योपघातक-तत्त्व-रहितेषु स्थानेपु निवसनं विविक्तवासः ॥

१३. पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), चार कपाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के निग्रह तथा विविक्तवास (एकान्तवास) को प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) कहा जाता है।

इस परिभापा से प्रतिसंलीनता के तीन प्रकार फलित होते है :

१. इन्द्रियप्रतिसंलीनता
२. कषायप्रतिसंलीनता
३. विविक्तवास।

१४. इन्द्रियों के विषय-प्रचार को रोकने (विषयो का ग्रहण न करने) तथा जो विषय प्राप्त हों उन पर राग-द्वेष न करने को इन्द्रियप्रतिसंलीनता कहा जाता है।

१५. क्रोध, मान, माया और लोभ को उदय मे न लाने तथा वे उदय मे आ जाए तो उन्हें विफल करने को कषाय-प्रतिसलीनता कहा जाता है।

१६. एकाग्रता मे बाधा डालने वाले तत्त्वों से रहित स्थान को विविक्तवास कहा जाता है।

प्रतिसंलीनता

मानसिक चचलता कुछ निमित्तो से होती है। उनमें पहला निमित्त इन्द्रिया है। वे जब बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं, तब मन को चचल बनाते है, इसीलिए साधना की भूमिका में उनको अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न किया जाता है। उनके अन्तर्मुख होने का अर्थ है—विषयों के साथ सम्पर्क स्थापित न करना। किन्तु इस जगत् में यह कब संभव है कि हमारे इन्द्रिय विषयों से सर्वथा असम्पृक्त रह सके ? इस कोलाहलमय जगत् मे क्या यह संभव है कि कान हो और शब्द सुनाई न दे ? इस रूपमय जगत् में क्या यह संभव है कि आंख हो और रूप को न देखे ? वायु के साथ प्रवाहित होकर आने वाली गंध को कैसे रोका जा सकता है ? रस और स्पर्श के सम्पर्क को भी सर्वथा नही रोका जा सकता। इस स्थिति मे हम विषयो से असम्पृक्त एक सीमा मे ही रह सकते है।

क्या इस स्थिति मे हम मानसिक चंचलता को रोकने में सफल हो सकते है ? नहीं हो सकते। किन्तु मनुष्य का शक्तिशाली मस्तिष्क नहीं को हा मे बदल देता है। उसने एक विकल्प खोज निकाला कि मन की स्थिरता का अभ्यास करने वाला व्यक्ति विषयों के सम्पर्क से जितना बच सके, उतना बचे और न बच सकने की स्थिति मे वह उनके प्रति अनासक्त रहे। विषयो के असम्पर्क और अनिवार्यरूपेण प्राप्त विषयों के प्रति

अनासक्ति—ये दोनों मिलकर इन्द्रिय प्रतिसंलीनता की प्रक्रिया को पूरा करते हैं।

अभ्यास की अपरिपक्व दशा मे विषयों से वचाव करना बहुत उपयोगी है और जैसे-जैसे एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होता जाए, वैसे-वैसे विषयों से बचने की अपेक्षा उनके प्रति होने वाली आसक्ति से बचना बहुत आवश्यक है। विषयों से बचने की प्रवृत्ति हो और अनासक्ति का भाव न हो, उस स्थिति में आन्तरिक पवित्रता पर बाह्याचार की विजय होती है। विषयो से बचने का प्रयत्न अनासक्ति की साधना का पहला चरण है। इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धि का द्वार इन दोनों के सामजस्य होने पर ही खुलता है।

आसक्ति के कारण व्यक्ति के मन में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के भाव उत्पन्न होते हैं और वे मन को व्यग्र बनाते हैं। उन पर विजय पाये बिना कोई भी व्यक्ति एकाग्रता को परिपुष्ट नही बना सकता और इन्द्रियों को भी अन्तर्मुखी नही बना सकता। कषाय प्रतिसलीनता के चार साधन है :

१. क्रोध-निवृत्ति के लिए उपशम भावना का अभ्यास।

२. मान-निवृत्ति के लिए मृदुता का अभ्यास।

३. माया-निवृत्ति के लिए ऋजुता का अभ्यास।

४. लोभ-निवृत्ति के लिए संतोष—अपनी आन्तरिक समृद्धि के निरीक्षण का अभ्यास।

इन प्रतिपक्ष भावनाओ का पुनःपुनः अभ्यास करने से कषाय अपने हेतुओं मे विलीन हो जाता है।

आन्तरिक अनुभूति और शून्यता की गहराई मे जाने के लिए एकांतवास वहुत मूल्यवान है। कोलाहलमय वातावरण में हम दूसरो को सुनते हैं किन्तु अपने अन्तर की आवाज नहीं सुन पाते। रंगीन वातावरण मे हम दूसरो को देखते है किन्तु इस शरीर मे विराजमान चिन्मय प्रभु को नही देख पाते। एकान्तवास मे अपने अन्त·करण की आवाज सुनने और अपने प्रभु से साक्षात्कार करने का सुन्दर अवसर मिलता है। उससे हमारा मन वाह्य सम्पर्को से मुक्त होकर अपने शक्ति-स्रोत मे विलीन हो जाता है।

स्वाध्याय

योग के आचार्यों ने परमात्म-प्राप्ति के दो साधन माने हैं—ध्यान और स्वाध्याय। उन्होंने लिखा है—स्वाध्याय करो और फिर ध्यान। ध्यान करो और फिर स्वाध्याय। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान का अभ्यास करने से परमात्मा प्रकट हो जाता है—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्॥
स्वाध्याय-ध्यान-सम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है—पढ़ना। साधना के संदर्भ में केवल पढ़ना स्वाध्याय नहीं है किन्तु आत्मा के विषय में जानना, विचार करना, मनन करना स्वाध्याय है। यह ध्यान का मूल बीज है। जिसका आत्मविचार स्पष्ट नहीं है, जिसे 'मैं कौन हूं' इस विषय की स्पष्ट धारणा नहीं है और जिसे आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का बोध नहीं है, वह ध्यान की उत्कृष्ट भूमिकाओं में कैसे प्रवेश पा सकता है? इसलिए ध्यान के मूल बीज के रूप में स्वाध्याय का बहुत बड़ा महत्त्व है।

१८. चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसंस्काराधानं भावना॥
१९. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आस्रव-संवर-निर्जरा-धर्म-लोक-संस्थान-बोधिदुर्लभता॥
२०. मैत्री प्रमोद-कारुण्य मध्यस्थताश्च॥
२१. उपशमादिदृढभावनया क्रोधादीनां जयः॥

१८. चित्त की शुद्धि, मोहक्षय तथा अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृत्ति को स्थिर करने के लिए जो विशिष्ट संस्कार आहित (स्थापित) किए जाते हैं, उनका नाम भावना है।

१९. भावनाएं बारह हैं :

१. अनित्य	७. आस्रव
२. अशरण	८. संवर
३ भव	६. निर्जरा
४. एकत्व	१०. धर्म
५. अन्यत्व	११. लोक-संस्थान
६. अशौच	१२. बोधि-दुर्लभता।

इसका बार-बार चिन्तन करने से मोह क्षीण होता है, चित्त शुद्ध होता है—सतुलित होता है और कर्तव्य में स्थिरता प्राप्त होती है।

२०. चार भवनाएं और है :

१. मैत्री	३. करुणा
२. प्रमोद	४. मध्यस्थता।

इनसे आत्मौपम्य, गुण-ग्रहण-वृत्ति, मृदुता और तटस्थता का विकास होता है।

२१. उपशम आदि की दृढ भावना करने से—उनका वार-वार दृढ अभ्यास करने से क्रोध आदि पर विजय प्राप्त होती है।

भावना

'कटकात् कटकमुद्धरेत्'—काटे से कांटा निकालने की नीति साधना के क्षेत्र मे भी लागू होती है। चित्त को वासनाओं से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है, पर पहले ही चरण मे दीर्घकालीन वासनाओ को एक साथ निर्मूल नही किया जा सकता। उन्हे निरस्त करने के लिए नयी वासनाओ की सृष्टि करनी होती है। वे नयी वासनाएं यथार्थपरक होती है, इसलिए उनका असत् से सम्वन्धित वासनाओ पर दबाव पडता है ओर वे उनसे अभिभूत हो जाती है।

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीय ज्ञान या शव्द ज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप, धारणा, संस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिता भी कहा जाता है और ये सव स्वाध्याय के ही प्रकार है।

जैन साधना पद्धति मे 'भावनायोग' शव्द का व्यवहार हुआ है। भावना

से मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है, इसलिए यह योग है। भावना मे ज्ञान और अभ्यास इन दोनो के लिए अवकाश है।

भावनाओ के प्रकार असख्य हो सकते है। उन्हे किसी वर्गीकरण में नही बांधा जा सकता, फिर भी दिशा-निर्देश के रूप मे एक-दो वर्गीकरण प्रस्तुत किए जा सकते है। प्रथम वर्गीकरण मे वारह भावनाओ का उल्लेख है :

१. अनित्य	७. आस्रव
२. अशरण	८. सवर
३. भव	६. निर्जरा
४. एकत्व	१०. धर्म
५. अन्यत्व	११. लोक-संस्थान
६. अशौच	१२. वोधि-दुर्लभता।

अनित्य भावना

जितने संयोग है, उनका अन्त वियोग मे होता है—संयोग विप्रयोगाऽन्ता. —फिर भी चिर सम्पर्क के कारण मनुष्य संयोग को शाश्वत मान बैठता है और जव उसका वियोग होता है, तब वह उसके लिए आकुल हो उठता है। यह आकुलता, दुःख और ताप वस्तु के वियोग से नहीं होता किन्तु उसके संयोग के प्रति शाश्वत की भावना होने से होता है। अनित्य भावना का प्रयोजन चित्त मे (सयोग और वस्तु की नश्वरता के प्रति) अशाश्वतता की भावना को पुष्ट बनाए रखता है। इस भावना का अभ्यासी साधक वियोग को नही रोक सकता किन्तु उससे प्रवाहित होने वाली दु.ख की धारा को रोक सकता है।

अशरण भावना

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है, इसलिए बाह्य वस्तुओ के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। उसे दुःख, अशान्ति, दरिद्रता आदि अनेक समस्याओ का सामना करना पडता है। वह उस संघर्ष में विजयी होने के लिए दूसरो का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन में सहारा, त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह

तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है, इसलिए वस्तुत· सहारा, त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ में ही है, अन्यत्र नहीं है। इस अतिम सचाई के आधार पर स्वयं में स्वय का त्राण खोजना और दूसरो के त्राणदान मे ऐकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना—अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्तृत्व प्रबल हो उठता है और दूसरो के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नही होता।

भव भावना

इस दुनिया मे सब प्राणी समान नही हैं और सब मुनष्य भी समान नही है। बुद्धि, वैभव और क्षमता भिन्न-भिन्न है। जिसके पास ये साधन होते है, उसका मन गर्व से भर जाता है और जिसके पास ये नही होते है, उसमे हीन भावना पनपती है। इस दोहरी बीमारी की चिकित्सा भव-भावना है। यह ससार परिवर्तनशील है। इसमे कोई भी व्यक्ति निरन्तर एक स्थिति में नही रहता। एक जन्म मे एक व्यक्ति अनेक स्थितियो का अनुभव कर लेता है। अनेक जन्मों में तो वह न जाने क्या-क्या अनुभव करता है। जो व्यक्ति इस परिवर्तन की भावना से भावित होता है, उसक मन मे गर्व या हीन भावना की वीमारी पैदा नहीं होती।

एकत्व भावना

आदमी अपने वाहरी वातावरण मे अकेला नहीं है। वह सामुदायिक जीवन जीता है और सवके वीच मे रहता है किन्तु वह सव वातो म सामुदायिक नही है। सामुदायिक जीवन के प्रवाह से आने वाली समस्याओं से अपने मन को खाली वही रख सकता है, जिसे व्यावहारिक सम्बन्धो के वीच अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। जिसे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की अनुभूति होती है, वह वाहरी समस्याओ का सामना करते हुए भी अपने अन्तस् में समस्या से मुक्त रहता है। वाहर के वातावरण मे समुदाय के वीच मे रहते हुए भी वह अन्तस् में अकेला रहता है और वाहरी जीवन मे व्यस्त रहते हुए भी अन्तस् मे व्यस्तता से मुक्त रहता है।

अन्यत्व (विवेक) भावना

मनुष्य का सबसे निकट सम्बन्ध शरीर से होता है। शरीर और आत्मा मे भेदानुभूति नही होती। जो शरीर है वह मैं हूं, और जो मैं हूं वह शरीर है—इस अभेदानुभूति के आधार पर ही मनुष्य के ममत्व का विस्तार होता है। सम्यग् दर्शन का मूल अन्यत्व भावना है। इसे विवेक भावना या भेदज्ञान भी कहा जाता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता की भावना पुष्ट होने पर मोह की ग्रन्थि खुल जाती है। सहज ही मन स्थिर हो जाता है। इसीलिए पूज्यपाद ने इस भावना को तत्त्वसग्रह कहा है—जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।

अशौच भावना

पुद्गलों के वाहरी सस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमे मन आसक्त हो जाता है। चमड़ी के भीतर जो है, वह आकर्षक नही है। बाहरी सस्थान के साथ आन्तरिक वस्तुओं का वोध करना—उन्हें साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है। प्राणी के शरीर मे रहने वाले अशुचि पदार्थ, मृत शरीर की दुर्गन्ध आदि का योग होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है।

आस्रव-संवर भावना

बाहर से कुछ लेना, उसे संचित करना, उससे प्रभावित होना और उसके अनुरूप अपने आपको ढालना—ये सव आश्रव की प्रक्रियाएं है। यही मानसिक चंचलता की प्रक्रिया है। सवर की क्रिया इसकी प्रतिपक्ष है। बाहर से कुछ भी लिया नहीं जाएगा तो उससे प्रभावित होने की परिस्थिति ही उत्पन्न नही होगी। इस स्थिति में मानसिक स्थिरता अपने आप हो जाती है।

निर्जरा भावना

विजातीय द्रव्य संचित होता है तब शरीर अस्वस्थ बनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वय स्वस्थ बन जाता है। बाहरी सचय का निर्जरण होने पर मानसिक चचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते है। निर्जरा

का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नही जानता, वह ध्यान का मर्म नही जान सकता।

धर्म भावना

धर्म आत्मा का सहज परिणमन है। निमित्त मिलता है, क्रोध उंभर आता है किन्तु कोई भी आदमी प्रतिक्षण क्रोध नहीं करता और कर भी नही सकता। क्षमा प्रतिक्षण की जा सकती है क्योकि वह उसका सहज रूप है।

ऋजुता हर क्षण मे हो सकती है किन्तु माया का आचरण हर क्षण मे नही होता। धर्म की भावना का अर्थ है—आत्मा के स्वाभाविक रूप की खोज करना। इसमे इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती है और मन अपने अस्तित्व के मूल प्रवाह मे विलीन हो जाता है।

लोक-संस्थान भावना

यह लोक विविधताओ की रगभूमि है। इसमें अनेक संस्थान और अनेक परिणमन है। उन सबमें एकत्व या समत्व की अनुभूति कर घृणा, अभिमान और हीन भावना पर विजय पायी जा सकती है। समत्व की साधना के लिए इस भावना के अभ्यास का बहुत महत्त्व है।

वोधिदुर्लभ भावना

बोधि के तीन प्रकार हैं—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि। सहजतया मनुष्य का आकर्षण ऐश्वर्य और सुख-सुविधा में होता है, किन्तु वे ही दुःख के हेतु बनते हैं, इस स्थिति को मनुष्य भुला देता है। प्रस्तुत भावना में मनुष्य के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस जगत् मे दुर्लभ क्या है ? धन-सम्पदा और सुख-सुविधा वस्तुत. दुर्लभ नही है। दुर्लभ है मानसिक शान्ति। वह धन-सम्पदा और सुख-सुविधा से प्राप्त नही होती किन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दृष्टिकोण और सम्यग्चारित्र के द्वारा प्राप्त होती है।

मन की शान्ति का हेतु वोधि है। कारण प्राप्त होने पर कार्य की सिद्धि सहज हो जाती है। वोधि प्राप्त होने पर मन की शान्ति का

किन्तु प्रसन्न होता है। ईर्ष्या नास्तिकता का चिह्न है। क्या आत्म-निष्ठ व्यक्ति आत्म-विकास पर एकाधिकार मान सकता है ?

दूसरे के विकास को नकारने का अर्थ गुणों की श्रेष्ठता को नकारना है। यदि गुणो की अच्छाई में हमारा विश्वास है तो वे किसी मे भी प्रकट हुए हो, हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं। इस चिन्तन की पुष्टि से मानसिक हर्ष निश्छिद्र और अव्यवच्छिन्न बन जाता है।

कारुण्य भावना

सुदूर क्षितिज मे बिजली का कौंधना देखकर हमे बादलों के अस्तित्व का बोध हो जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण गे करुणा का प्रवाह देखकर हम जान पाते हैं कि अमुक व्यक्ति मे सत्य की जिज्ञासा है। उसे सत्य का कुछ साक्षात् हुआ है और उसका दृष्टिकोण समीचीन है। क्रूरता का विसर्जन किए बिना कोई भी आदमी सत्य की दिशा मे गतिशील नहीं हो सकता। इस अनुभूति की तीव्रता के द्वारा मनुष्य मे करुणा का संस्कार सुदृढ हो जाता है।

माध्यस्थ्य भावना

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुरक्त होने और उससे भिन्न वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्विष्ट होने का अर्थ पक्षपात है। पक्षपात यानी विपमता। राग और द्वेष से होने वाले अन्याय के परिणामो को समझे विना क्या कोई भी व्यक्ति मानसिक झुकाव से वच सकता है ?

कोई व्यक्ति उन्मार्ग की ओर जा रहा है। उसे सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना कर्तव्य है किन्तु वल-प्रयोग के द्वारा उस कर्तव्य की पालना नही हो सकती। हृदय-परिवर्तन का प्रयत्न करने पर भी यदि सामने वाला व्यक्ति उन्मार्ग से विमुख नही होता है तो उसके लिए प्रतीक्षा ही की जा सकती है किन्तु क्रोध करके अपने मन को धूमिल और परिस्थिति को जटिल वनाना समुचित नही हो सकता। उलझन-भरी परिस्थिति व वातावरण मे अपने मानसिक संतुलन को वनाये रखने का अभ्यास करने, न्याय के प्रति दृढ निष्ठा होने तथा हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त मे आस्था होने से मध्यस्थता का मस्कार सुस्थिर होता है।

कषाय

क्रोध, अभिमान, माया और लोभ—इन चारो को एक शब्द मे कषाय कहा जाता है। इनके द्वारा मन रजित होता है—अपनी सहज साम्यपूर्ण स्थिति को खोकर इनके रग मे रग जाता है। इसलिए इन्हे कषाय कहना सर्वथा उपयुक्त है। कषाय के द्वारा मानवीय गुण विनष्ट होते है। जैसे—

१. क्रोध से प्रेम
२. अभिमान से विनय
३. माया से मैत्री
४ लोभ से सर्वगुण।

इन्हे बल-प्रयोग से नही मिटाया जा सकता। इन पर विजय पाने के लिए प्रतिपक्ष भावना का आलम्वन लेना उपयोगी होता है। उपशम (शान्ति) की भावना को पुष्ट करने—उपशम के विचार को वार-बार दोहराने से क्रोध सहज ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार मृदुता की भावना को पुष्ट करने से अभिमान, ऋजुता की भावना को पुष्ट करने से माया और सतोष की भावना को पुष्ट करने से लोभ सहज ही विनष्ट हो जाता है।

भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट-सिद्धि मे अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन पर वैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे। फिर मन को शिथिल करे। पाच मिनट तक उन्हे शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जव शिथिल हो जाए तब उपशम आदि पर मन को एकाग्र करे। इस प्रकार निरन्तर आधा घटा तक अभ्यास करने से पुराने सस्कार विलीन हो जाते है और नये सस्कारो का निर्माण होता है। इस प्रकार का अभ्यास वैयक्तिक रूप मे भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप में भी कराया जा सकता है।

२२. शरीर-गण-उपधि-भक्तपान कषायाणां विसर्जनं व्युत्सर्गः॥
२३. ध्यानाय शरीर-व्युत्सर्गः॥
२४. विशिष्टसाधनायै गण-व्युत्सर्गः॥
२५. लाघवाय उपधि-व्युत्सर्गः॥

२६. ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्गः॥

२७. सहजानन्दलब्धये कषाय-व्युत्सर्गः॥

२२. शरीर, गण, उपधि, भक्तपान और कषाय का विसर्जन करने को व्युत्सर्ग कहा जाता है।

२३. ध्यान के लिए शरीर का व्युत्सर्ग किया जाता है। उसे त्यक्त, शिथिल, निश्चेष्ट और निष्क्रिय कर देने पर उसका भान नहीं होता और तनाव समाप्त हो जाता है।

२४. विशिष्ट साधना के लिए गण का व्युत्सर्ग किया जाता है। जो विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न हों, विशिष्ट शरीर-बल सम्पन्न हों तथा गुरु द्वारा अनुज्ञात हो वे ही व्यक्ति अकेले रहकर विशिष्ट साधना करने के अधिकारी हैं।

२५. लाघव (हल्कापन) के लिए उपधि—वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग किया जाता है। बाह्य-उपधि जितने अधिक व्यक्त होते हैं, उतनी ही लघुता बढ़ती है और वे जितने अधिक होते है, उतना ही भार वढ़ता है।

२६. ममत्व की हानि तथा भेदज्ञान के लिए आहार-पानी का त्याग किया जाता है। शरीर जो है, वह मैं नहीं हू, और मैं जो हूं, वह शरीर नही है—ऐसा भेदज्ञान होने से ममत्व की हानि होती है और ममत्वहीन होने से आत्मशक्ति का विकास होता है। भक्त-पान का त्याग उसके विकास में बहुत सहायक है।

२७. सहज आनन्द या वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए कपाय का त्याग किया जाता है। कपाय के द्वारा आत्मा का सहज आनन्द विकृत हो जाता है। उसकी प्राप्ति कपाय दूर होने पर ही होती है।

व्युत्सर्ग

विसर्जन साधना का रहस्य है। जो विसर्जन के महत्त्व को नहीं जानता, वह साधना के मर्म को नही जानता। अहकार और ममकार—ये दोनों साधना के वाधक तत्त्व है। साधक की पहली कसौटी है—अहकार और ममकार से मुक्त होना।

शरीर-व्युत्सर्ग

ममकार का मूल बीज शरीर है। साधना की पहली कक्षा है—शारीरिक ममत्व का विसर्जन। शारीरिक ममत्व को विसर्जित किए बिना शरीर के भीतर अवस्थित चेतन सत्ता की अनुभूति नही हो सकती। दीपशिखा पर जैसे ढक्कन पडा है, उसी प्रकार शरीर और उसके सहचारी मन और प्राण के द्वारा चैतन्य की शिखा ढकी पड़ी है। शरीर की चंचलता और ममत्व का जैसे-जैसे विसर्जन होता है, वैसे-वैसे हमारी उन्मुखता चैतन्य की ओर होती है। ध्यान का लक्ष्य है चैतन्य की उपस्थिति का सतत अनुभव करना। उसके लिए शरीर की चंचलता और ममत्व, ये दोनो त्याज्य हैं।

गण-व्युत्सर्ग

साधक अकेले में रहे या संघ में ? इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने अनैकातिक उत्तर दिया है। भगवान् ने कहा—साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है और वह गांव में भी नहीं हो सकती और अरण्य में भी नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति मे आत्माभिमुखता की तीव्रता नही है, उसके लिए अरण्य भी गांव जैसा है और जिस व्यक्ति में आत्माभिमुखता की तीव्रता है, उसके लिए गांव भी अरण्य जैसा है। इसी प्रकार आत्माभिमुख व्यक्ति संघ में रहकर भी अकेला रह सकता है। वह अकेले मे रहकर भी वैचारिक अकेलेपन का अनुभव नहीं कर पाता।

तत्त्व-विचार की भूमिका मे उक्त चितन की यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु मनुष्य की कठिनाई है कि वह पहले ही चरण मे तत्त्व-चिन्तन और व्यवहार की भूमिका में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता। सघीय जीवन में व्यावहारिक कठिनाइयां अनायास ही उभर आती है। उसमे विभिन्न रुचियां, संस्कार, चिन्तन और मानदंड होते हैं। वे सामान्य साधना मे विक्षेप डालते भी हैं या नही भी डालते। किन्तु उसकी विशिष्ट प्रक्रियाओं व प्रयोगों मे वे साधक नहीं होते। इसीलिए साधना की विशिष्ट प्रक्रियाओं का अभ्यास करने वाला व्यक्ति संघीय जीवन से मुक्त होकर चलता है।

दूसरों के लिए कुछ करना बहुत बडी बात है और केवल अपने लिए

२६. ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्गः॥

२७. सहजानन्दलब्धये कषाय-व्युत्सर्गः॥

२२. शरीर, गण, उपधि, भक्तपान और कषाय का विसर्जन करने को व्युत्सर्ग कहा जाता है।

२३. ध्यान के लिए शरीर का व्युत्सर्ग किया जाता है। उसे त्यक्त, शिथिल, निश्चेष्ट और निष्क्रिय कर देने पर उसका भान नही होता और तनाव समाप्त हो जाता है।

२४. विशिष्ट साधना के लिए गण का व्युत्सर्ग किया जाता है। जो विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न हों, विशिष्ट शरीर-वल सम्पन्न हों तथा गुरु द्वारा अनुज्ञात हों वे ही व्यक्ति अकेले रहकर विशिष्ट साधना करने के अधिकारी हैं।

२५. लाघव (हल्कापन) के लिए उपधि—वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग किया जाता है। बाह्य-उपधि जितने अधिक व्यक्त होते है, उतनी ही लघुता बढती है और वे जितने अधिक होते हैं, उतना ही भार बढता है।

२६. ममत्व की हानि तथा भेदज्ञान के लिए आहार-पानी का त्याग किया जाता है। शरीर जो है, वह मैं नही हू, और मै जो हूं, वह शरीर नही है—ऐसा भेदज्ञान होने से ममत्व की हानि होती है और ममत्वहीन होने से आत्मशक्ति का विकास होता है। भक्त-पान का त्याग उसके विकास मे बहुत सहायक है।

२७. सहज आनन्द या वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए कपाय का त्याग किया जाता है। कषाय के द्वारा आत्मा का सहज आनन्द विकृत हो जाता है। उसकी प्राप्ति कपाय दूर होने पर ही होती है।

व्युत्सर्ग

विसर्जन साधना का रहस्य है। जो विसर्जन के महत्त्व को नही जानता, वह साधना के मर्म को नही जानता। अहकार और ममकार—ये दोनो साधना के वाधक तत्त्व है। साधक की पहली कसौटी है—अहकार और ममकार से मुक्त होना।

शरीर-व्युत्सर्ग

ममकार का मूल बीज शरीर है। साधना की पहली कक्षा है— शारीरिक ममत्व का विसर्जन। शारीरिक ममत्व को विसर्जित किए बिना शरीर के भीतर अवस्थित चेतन सत्ता की अनुभूति नही हो सकती। दीपशिखा पर जैसे ढक्कन पडा है, उसी प्रकार शरीर और उसके सहचारी मन और प्राण के द्वारा चैतन्य की शिखा ढकी पड़ी है। शरीर की चंचलता और ममत्व का जैसे-जैसे विसर्जन होता है, वैसे-वैसे हमारी उन्मुखता चैतन्य की ओर होती है। ध्यान का लक्ष्य है चैतन्य की उपस्थिति का सतत अनुभव करना। उसके लिए शरीर की चचलता और ममत्व, ये दोनो त्याज्य है।

गण-व्युत्सर्ग

साधक अकेले मे रहे या संघ मे ? इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने अनैकातिक उत्तर दिया है। भगवान् ने कहा—साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है और वह गांव में भी नही हो सकती और अरण्य मे भी नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति में आत्माभिमुखता की तीव्रता नही है, उसके लिए अरण्य भी गांव जैसा है और जिस व्यक्ति मे आत्माभिमुखता की तीव्रता है, उसके लिए गाव भी अरण्य जैसा है। इसी प्रकार आत्माभिमुख व्यक्ति संघ में रहकर भी अकेला रह सकता है। वह अकेले में रहकर भी वैचारिक अकेलेपन का अनुभव नहीं कर पाता।

तत्त्व-विचार की भूमिका मे उक्त चितन की यथार्थता को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु मनुष्य की कठिनाई है कि वह पहले ही चरण मे तत्त्व-चिन्तन और व्यवहार की भूमिका में सामंजस्य स्थापित नही कर पाता। संघीय जीवन मे व्यावहारिक कठिनाइयां अनायास ही उभर आती है। उसमें विभिन्न रुचिया, संस्कार, चिन्तन और मानदंड होते हैं। वे सामान्य साधना मे विक्षेप डालते भी है या नहीं भी डालते। किन्तु उसकी विशिष्ट प्रक्रियाओं व प्रयोगो में वे साधक नही होते। इसीलिए साधना की विशिष्ट प्रक्रियाओं का अभ्यास करने वाला व्यक्ति संघीय जीवन से मुक्त होकर चलता है।

दूसरो के लिए कुछ करना बहुत बडी बात है और केवल अपने लिए

करना स्वार्थ है, इस सत्य को अस्वीकृति नही दी जा सकती। किन्तु इस तथ्य पर भी आवरण नही डाला जा सकता कि संघमुक्त साधना करने का सम्बन्ध प्रयोजन से नहीं, पद्धति से है। एकान्त मे साधना करने वाले का प्रयोजन अपने लिए और दूसरों के लिए इन दोनों की समष्टि मे व्याप्त है। वह केवल स्वार्थ ही नहीं है, किन्तु जैसे एक विद्यार्थी, कवि, लेखक या वैज्ञानिक को अपने कार्य के लिए शान्त-नीरव स्थान की अपेक्षा होती है, वैसे ही आत्मानुभूति की गहराई मे पैठने वाले साधक को एकान्त की अपेक्षा होती है। शान्त सरोवर में कोई ढेला न फेके इस दृष्टि से उसे अकेला रहना आवश्यक होता है। प्रायोगिक काल मे अकेलेपन की उपयोगिता समझ में आती है। सत्य उपलब्ध होने पर सघ या अकेलेपन का कोई भेद नही होता।

उपधि और भक्तपान व्युत्सर्ग

पदार्थो का सग्रह और उनका ममत्व—ये दोनों अन्तरानुभूति के विघ्न हैं। पदार्थ स्वतः विघ्न नही है किन्तु उनका संग्रह लोभ के कारण होता है, इसलिए वह विघ्न हो जाता है। ममत्व के बिना सग्रह होता ही नही और जहा ममत्व होता है वहां अन्तरानुभूति का स्थान वाह्यानुभूति ले लेती है। उस स्थिति मे साधक की चेतना मूर्च्छा से वोझिल बन जाती है। मूर्च्छा का विसर्जन अर्थात् सग्रह का विसर्जन। यह विसर्जन की प्रक्रिया आगे वढते-बढ़ते पदार्थो के पूर्ण त्याग तक पहुच जाती है। भोजन के विना शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता, किन्तु इस प्रक्रिया में उसका भी आंशिक त्याग प्राप्त होता है और एक बिन्दु आने पर सदा के लिए भोजन का विसर्जन कर दिया जाता है। दैहिक ममत्व का विसर्जन करने के लिए ऐसा करना वहुत आवश्यक है।

ममत्व-विसर्जन हो जाए, फिर संग्रह-विसर्जन की क्या आवश्यकता है ? इस चिन्तन का वाह्य जितना सुन्दर है, उतना अन्तस् यथार्थ नही है। ममत्व-विसर्जन की कसौटी असंग्रह है। सग्रह है और ममत्व नही है, यह सामान्य स्थिति नही है। सग्रह नहीं होने पर ममत्व नही होता, यह व्याप्ति भी नहीं है। इन दोनो रेखाओ के मध्य मे जो देखा जा सकता है, वह इतना ही है कि ममत्व-विसर्जन के लिए संग्रह का विसर्जन किया

जाए और संग्रह-विसर्जन की यथार्थता के लिए ममत्व-विसर्जन का अभ्यास किया जाए।

क्या कोई शरीरधारी ऐसा हो सकता है, जो शरीर को धारण करे और उसकी मांग को पूरा न करे ? भोजन शरीर की आवश्यक माग है। उसे पूरा करना साधक के लिए भी अनिवार्य है। एक ओर शरीर की माग को पूरा करने का प्रश्न है तो दूसरी ओर उसके ममत्व (देहाध्यास) के विसर्जन का प्रश्न है। शारीरिक ममत्व का विसर्जन करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक शरीर की अपेक्षा को पूरा करे किन्तु जितनी अपेक्षा हो उसे अविकल रूप से पूरा न करे। यह देह और आत्मा के भेदज्ञान की ओर प्रगति होने की व्यावहारिक कसौटी है।

कषाय-व्युत्सर्ग

अनुकूल स्थिति और इष्ट वस्तु का योग होने पर मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट का योग होने पर उसे दु.ख का अनुभव होता है। साधारण मनुष्य इसी सुख-दुःख के चक्र मे परिभ्रमित रहता है। सुख के आगे आनन्द नाम की कोई वस्तु है, यह प्रश्नचिह्न भी उसके मन मे नही उभरता। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट के योग मे भी मनुष्य के आनन्द का प्रवाह अविच्छिन्न रह सकता है, यह कल्पना सामान्यत नही हो सकती। किन्तु आनन्द उसी स्थिति का नाम है जो वाह्य के सयोग या वियोग के आधार पर घटित नहीं होती।

हर मनुष्य के अन्तस् की गहराई मे आनन्द की असीम धारा प्रवाहित होती है किन्तु प्राणिक और मानसिक आवरणो से वह आच्छन्न है। मोह (कषाय) की राख से उसके अस्तित्व की लौ ढकी हुई है, इसलिए उसका होना नही होने जैसा है।

ध्यान आदि के अभ्यास से प्राणिक और मानसिक आवरण का विघटन करना काफी प्रयत्न-साध्य है। आत्मानुभूति की गहराई होने पर प्राणिक और मानसिक आवरण विच्छिन्न हो जाते हैं। आत्मानुभूति की गहराई जब निरन्तर हो जाती है, उस समय मोह की ग्रन्थि भी खुल जाती है और मनुष्य सहज आनन्दानुभूति के रस मे परिप्लावित हो जाता है।

चौथा प्रकरण

१. स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता॥

२. आरोग्यवान् दृढ़संहननो विनीतोऽकृतकलहो रसाप्रतिबद्धोऽप्रमत्तोऽनलसश्च॥

३. मुमुक्षुः संवृतश्च॥

४. स्थिराशयत्वमस्य॥

१. जिस व्यक्ति मे स्वरूप-जिज्ञासा—अपना मौलिक रूप जानने की भावना होती है, वही ध्याता—ध्यान का अधिकारी होता है।

२. ध्यान का अधिकारी वही हो सकता है, जो आरोग्यवान् हो, दृढ़ शरीर वाला हो, विनीत हो, उपशान्त-कलह हो, रसलोलुप न हो, अप्रमत्त हो और आलसी न हो। इसका तात्पर्य यह है कि रोग, शरीर-दुर्वलता, अविनय, कलह, रसलोलुपता, प्रमाद और आलस्य—ये ध्यान की साधना के विघ्न है। मन को अनुशासित वही कर सकता है, जो इनसे वचे।

३. वही व्यक्ति ध्यान का अधिकारी होता है, जो मुमुक्षु और संवृत है। जिसमे मुक्त होने की इच्छा होती है, वह मुमुक्षु कहलाता है। जिसमे सवरण की क्षमता होती है, वह सवृत होता है।

४ ध्यान के द्वारा ध्याता का आशय स्थिर हो जाता है—चित्त की चचलता दूर हो जाती है।

ध्यान की योग्यता

किसी एक विन्दु पर एकाग्र होना, विचारों को एक ही दिशा मे प्रवाहित करना या विचारातीत होना सरल कार्य नही है। इन सवके लिए शारीरिक और मानसिक विकास की अपेक्षा होती है। शारीरिक चचलता

को विसर्जित किए बिना क्या कोई व्यक्ति ध्यान का अधिकारी बन सकता है ? मानसिक अभ्यास को पुष्ट किए विना क्या कोई ध्यान का अधिकारी बन सकता है ? ध्यान की पहली योग्यता है—स्वरूप की जिज्ञासा। जो दृश्य है—वह स्वरूप नहीं है। अपना अस्तित्व नही है। जो निजी अस्तित्व है वह बहुत सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने के कारण वह चर्म चक्षु द्वारा दृश्य नहीं है। उसे देखने की उत्कट आकाक्षा हुए बिना वह दिखाई भी नहीं देता।

प्रारम्भ में ध्यान वहुत सरस नही लगता। स्थूल प्रवृत्ति को छोडकर निष्क्रिय मुद्रा मे वैठ जाना अच्छा लग भी कैसे सकता है ? किन्तु ऐसा वही कर सकता है जिसके मन में इस स्थूल शरीर के भीतर छिपे हुए सूक्ष्म परमतत्त्व को जानने की उत्कट आकाक्षा प्रकट हो जाती है।

निशाना साधने में भी एकाग्रता होती है। प्रिय का वियोग होने पर उसे पाने और अप्रिय का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए भी मन एकाग्र वनता है, किन्तु उस एकाग्रता से चित्त निर्मल नही होता। फलतः उससे परमतत्त्व प्रकाशित नहीं होता। उसे प्रकट करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है और चैत्तिक निर्मलता के लिए अपने दोषातीत अस्तित्व पर चित्त को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया मे स्वरूप की जिज्ञासा ध्यान का पहला सोपान है।

स्वरूप की जिज्ञासा के प्रबल होने पर साधक में दो विशेष गुण विकसित होते है :

१. मुमुक्षा　　　　　　२. संवृतत्व

मुमुक्षा का अर्थ है—उन सारी प्रवृत्तियो से मुक्त होने की इच्छा, जो स्वरूप की उपलब्धि मे बाधक बनती है। दूसरे शब्दो मे वह स्वतत्रता जो परिस्थिति आदि से भी प्रताडित नही होती। यह (मुमुक्षा) जितनी समर्थ होती है, उतनी ही ध्यान की क्षमता वढती है। इसलिए ध्याता का मुमुक्षु होना जरूरी है।

सवृतत्व का अर्थ है—इन्द्रिय और मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। उनकी वहिर्मुखी प्रवृत्ति रहती है तब तक साधक वैपयिक सुखों से विरक्त नही होता। वैपयिक सुखो की अनुरक्ति होना ध्यान के लिए अनुकूल नही है। इसलिए ध्याता का संवृत होना जरूरी है।

स्वरूप की जिज्ञासा होने पर भी ध्यान की सफलता पाना निश्चित नही है। उसके अनेक विघ्न है। उनका निरसन किए विना ध्याता आगे नहीं बढ़ सकता। स्थूल दृष्टि के अनुसार ध्यान के विघ्नो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१. रोग
२. शारीरिक संहनन (अस्थि-रचना) की दुर्बलता
३. उद्दण्ड मनोभाव
४. झगड़ालू मनोवृत्ति
५. खाद्य-संयम का अभाव
६. प्रमाद (विस्मृति)
७. आलस्य

इन विघ्नो में कुछ शारीरिक है और कुछ मानसिक। शारीरिक विघ्नों को आसन, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा निरस्त किया जा सकता है और मानसिक विघ्नो को दूर करने के लिए सतत जागरूक रहना जरूरी है। अपने स्वरूप के प्रति जागरूक रहना ध्यान का प्रथम या अंतिम उपाय है अथवा वही ध्यान है।

हम ध्यान की उपयोगिता को तभी अस्वीकार कर देते यदि उसके द्वारा चित्त की स्थिरता प्राप्त नही होती। एक सीमा तक चित्त की चचलता सह्य होती है, किन्तु उसकी चचलता पर कोई नियत्रण नही होता तव वह आगे से आगे बढती जाती है। एक दिन उसका वढना असह्य हो उठता है। यही मानसिक अशान्ति है। इसके निवारण का उपाय या मानसिक शान्ति का उपाय है—चंचलता की मात्रा को फिर से कम करना। यह कार्य ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है।

५. **ईषदवनतकायो निमीलितनयनो गुप्तसर्वेन्द्रियग्रामः सुप्रणिहितगात्रः प्रलम्बितभुजदण्डः सुश्लिष्टचरणः पूर्वोत्तराभिमुखो ध्यायेत्॥**

६. **पद्मासनादिपु निषण्णो वा॥**

५. ध्यान करने वाला व्यक्ति शरीर को आगे की ओर थोड़ा-सा झुकाकर, नेत्रो को मूदकर, इन्द्रियो को विपयों से निवृत्त कर, शरीर को सुस्थिर व शिथिल वनाकर, वांहो को घुंटनो की ओर प्रलम्वित कर, पैरो की एड़ियो को परस्पर मिलाकर पूर्व या उत्तर

दिशा की ओर मुंह कर ध्यान करे।
६ अथवा पद्मासन आदि लगाकर ध्यान करना चाहिए।

ध्यान-मुद्रा

ध्यान की परिपक्वता होने के पश्चात् चाहे जिस मुद्रा मे ध्यान किया जा सकता है, किन्तु जव तक उसका अभ्यास परिपक्व नहीं होता, तब तक कुछ निश्चित मुद्राओ मे बैठकर ध्यान करना उपयोगी होता है।

ध्यान खडे होकर भी किया जा सकता है और बैठकर भी किया जा सकता है। खडे होकर ध्यान करने की मुद्रा को कायोत्सर्ग कहा जाता है। उसका निश्चय शारीरिक और मानसिक सम्बन्ध के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत मुद्रा मे मुख्य वातें ये हैं :

१. शरीर का आगे की ओर थोड़ा-सा झुका हुआ होना।
२. आंखो को मूदना या अधखुली रखना।
३ इन्द्रियो का सयम करना।
४. शरीर को स्थिर रखना।
५. भुजाओ को लटकाकर घुटने से सटाए रखना।
६. पैरो की एडियो को सटाए व दोनो पंजो के बीच चार अगुल का अन्तर रखना।
७. पूर्व या उत्तर दिशा के अभिमुख होना।

ध्यानकाल में शरीर सीधा होना चाहिए। यह ध्यान का सामान्य नियम है। आगे की ओर थोड़ा झुकने का अर्थ उस नियम का अतिक्रमण नही है। मानसिक एकाग्रता के साथ श्वास का गहरा सम्वन्ध है। फेफडे और गले को थोडा आगे झुकाने से श्वास के समीकरण की सुविधा होती है। इस दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है।

मानसिक एकाग्रता के लिए आखों का संयम होना अत्यन्त अनिवार्य है। चचलता की वृद्धि में उनका बहुत बडा योग है। आंखे मूद लेने पर चाक्षुष एकान्त हो जाता है। उन्हें अधखुला भी रखा जा सकता है। नासाग्र या किसी चक्र पर एकाग्र किया जाए तो उन्हें खुला भी रखा जा सकता है। ध्यान मे केवल चाक्षुष एकान्त ही अपेक्षित नही किन्तु सभी इन्द्रियो का एकान्त होना आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ध्याता के

लिए सर्वेन्द्रिय-सयम मुद्रा का निर्देश दिया गया है।

शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता का आधार है। इस दृष्टि से शरीर का सुप्रणिधान करना बहुत उपयोगी है। प्रणिधान निर्मलता और स्थिरता के द्वारा प्रकट होता है। शरीर की निर्मलता नाडी-शोधन के द्वारा प्राप्त होती है और उसके होने पर ही वांछनीय स्थिरता प्राप्त होती है।

नाडी-शोधन के लिए समवृत्ति प्राणायाम बहुत उपयोगी है। दिन-रात में तीन या चार बार समवृत्ति प्राणायाम करने तथा प्रत्येक बार मे ६० से ८० तक की पुनरावृत्ति तक पहुच जाने पर नाड़ी-शोधन हो जाता है।

खड़े होकर ध्यान किया जाता है तब भुजदंड का प्रलम्वित होना आवश्यक है। बायीं अंजलि पर दायीं अंजलि टिका तथा दोनो अजलियो को नाभि से सटाकर भी ध्यान किया जाता है, किन्तु खडे होकर किए जाने वाले ध्यान मे अधिकाशतया प्रलम्बित भुजा की पद्धति ही प्रचलित रही है। इसका हार्द यही होना चाहिए कि ध्यानकाल मे प्रवाहित होने वाली शक्ति तरंगे शरीर के बाहर न जाकर पुनः उसमे ही समाहित हो जाएं।

दोनो पैर परस्पर सटे हुए होने चाहिए। दोनो एडियां भी सटी हुई होनी चाहिए किन्तु पंजो के वीच में चार अंगुल का अन्तर रहना आवश्यक है। इसमें लम्वे समय तक स्थिर मुद्रा में अभ्यास करने में सुविधा होती है। शिथिलता या स्थिरता प्राप्त करने मे अधिक कठिनाई नहीं होती।

हमारा जगत् संक्रमणशील है। इसमें वस्तु एक देश से दूसरे देश में संक्रांत होती है और उससे दूसरे द्रव्य प्रभावित होते हैं। सौर जगत् से जो परमाणु प्रवाह आता है, उससे मनुष्य प्रभावित होता है। देश और काल ये दोनों माध्यम उसके प्रभावित होने में योग देते है। जैसे विभिन्न महीनों में आने वाला सौर जगत् का प्रवाह मनुष्य के विभिन्न अगों को प्रभावित करता है, वैसे ही विभिन्न दिशाओ से आने वाला सौर प्रवाह भी मनुष्य के विभिन्न अंगो और चैतन्य केन्द्रों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। ध्यान के लिए पूर्व और उत्तर दिशा से आने वाले सौर जगत् के तत्त्व-प्रवाह अधिक अनुकूल होते हैं। इसीलिए ध्याता को पूर्व और उत्तर दिशा की

ओर मुह कर ध्यान करने का निर्देश दिया गया है।

खडे होकर ध्यान करना कठिन कार्य है। बैठकर ध्यान करना उससे सरल है। इसमें शारीरिक तनाव का विसर्जन अधिक सरलता से किया जा सकता है। बैठकर किए जाने वाले पद्मासन आदि अनेक आसन हैं। वे सभी आसन ध्यान के लिए विहित हैं। किन्तु वैसे आसनों में ध्यान करना विहित नहीं है जो शरीर के लिए कष्टकर हों। इस विषय में कुछ आचार्यो का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने लिखा है कि वर्तमान मे शरीर का सहनन बहुत दृढ नहीं है। इसलिए ध्यान के लिए पद्मासन और कायोत्सर्गासन—इन दो ही आसनों का प्रयोग करना चाहिए। यह कोई नियम नहीं है किन्तु वर्तमान की स्थिति का विवेक है।

ध्यान सोकर भी किया जा सकता है। उसका व्यवहार सामान्यतः प्रचलित नहीं है किन्तु सोकर ध्यान न करना, ऐसा नियम भी नहीं है। अभ्यासकाल में आसन आदि पर अधिक ध्यान देना आवश्यक होता है। अभ्यास के परिपक्व होने पर चाहे जिस मुद्रा या आसन में ध्यान किया जा सकता है।

७. ग्रामागार-शून्यगृह-श्मशान-गुहोपवन-पर्वत-तरुमूल-पुलिनानि ध्यानस्थलानि॥

८ भूपीठ-शिलाकाष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि॥

७ गांव, घर, शून्यगृह, श्मशान, गुफा, उपवन, पर्वत, वृक्षमूल, नदी का पार्श्व भाग आदि ध्यान करने के लिए उपयुक्त स्थल है।

८ भूपीठ, शिलापट्ट—ये बैठने के लिए उपयुक्त आसन हैं। ध्यान के आसन पहले बताए जा चुके हैं।

ध्यान-स्थल

ध्यान कहां किया जाए ? इस प्रश्न का भी अपने आप में महत्त्व है। वस्तु का जैसे महत्त्व होता है, वैसे ही उसके क्षेत्र (आधारस्थल) का भी महत्त्व होता है। ध्यान के लिए सर्वाधिक समुचित क्षेत्र वही है, जहां कोलाहल न हो। एकाग्र होने मे बाधा डालने वाली कोई भी वस्तु न हो। शून्यगृह, श्मशान आदि स्थलों का चुनाव इसी दृष्टि से किया गया है। किन्तु ध्यान एकान्त स्थलो में ही किया जाए, यह अनिवार्य नही है। वह

गांव, जनाकुल घर में भी किया जा सकता है। उपवन आदि का चुनाव इसलिए किया गया कि उसमें पर्याप्त प्राणवायु प्राप्त हो सके।

स्थल के सम्बन्ध में कोई निश्चित रेखा नही खींची जा सकती, किन्तु इस विषय में इतना ही निर्देश किया जा सकता है कि वह स्वच्छ, नीरव, प्रशस्त और प्राणवायु से परिपूर्ण होना चाहिए। स्थल के विषय मे एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि ध्यान एक निश्चित स्थान में किया जाए तो उसकी सिद्धि शीघ्र होती है।

दूसरी बात यह है कि विचार संक्रमणशील होत है। एक मनुष्य के विचारो का दूसरे मनुष्य के विचारो पर असर होता है। बुरे विचारों का संक्रमण न हो, इस दृष्टि से ध्यान-स्थल का एकान्त होना आवश्यक है।

ध्यानोचित आसन

ध्यानकाल मे बैठने के आसनो का भी बहुत महत्त्व है। मृत्तिका, शिलाखण्ड और काष्ठ—ये शरीर के तापमान को सन्तुलित और स्थिर बनाए रखते है और विजातीय तत्त्वो के प्रभाव से बचाते है, इसलिए इनका विशेप महत्त्व है। सात्त्विक वस्त्रासन भी ध्यानकाल मे उपयोग मे लाये जाते है।

९. सालम्वन-निरालम्बनभेदाद् ध्यानं द्विधा॥
१०. पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीतभेदाद्यं चतुर्धा॥
११. शारीरालम्वि पिण्डस्थम्॥
१२. शिरो-भ्रू-तालु-ललाट-मुख-नयन-श्रवण-नासाग्र-हृदय-नाभ्यादि शारीरालम्वनानि॥
१३ धारणालम्वनं च॥
१४. प्रेक्षा वा॥
१५. ध्येये चित्तस्य स्थिरवन्धो धारणा ॥
१६. पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा॥
१७ स्वाधारभूतानां स्थानानां वृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्शः॥
१८. तत्रस्थस्य निजात्मनः सर्वसामर्थ्योद्भावनं पार्थिवी॥
१९ नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेपदोपदाहचिन्तनमाग्नेयी॥
२०. दग्धमलापनयनाय चिन्तनं मारुती॥

२१. महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तनं वारुणी॥
२२. श्रुतालम्बि पदस्थम्॥
२३. संस्थानालम्बि रूपस्थम्॥
२४. सर्वमतापगतज्योतिर्मयात्मालम्बि रूपातीतम्॥
२५. तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायाद् वैलक्षण्यम्॥

९. ध्यान के दो प्रकार हैं :
   १. सालम्बन—आलम्बन-सहित।
   २. निरालम्बन—आलम्बन-रहित।

१०. सालम्बन ध्यान के चार प्रकार हैं :
   १. पिण्डस्थ
   २. पदस्थ
   ३. रूपस्थ
   ४. रूपातीत

११. जिस ध्यान मे शरीर के किसी अवयव का आलम्बन लिया जाता है, वह पिण्डस्थ कहलाता है।

१२. सिर, भ्रू, तालु, ललाट, मुंह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय और नाभि—ये शारीरिक आलम्बन है।

१३. धारणा का आलम्बन लेने वाले ध्यान को भी पिण्डस्थ कहा जाता है।

१४. स्थूल और सूक्ष्म शरीर की सवेदनाओ और क्रियाओं तथा मानसिक वृत्तियों के दर्शन के अभ्यास को प्रेक्षा कहा जाता है। यह भी एक प्रकार का पिण्डस्थ ध्यान है।

१५. चित्त को किसी एक देश में सन्निविष्ट करने को धारणा कहा जाता है।

१६ धारणा के चार प्रकार है :

१. पार्थिवी	२. आग्नेयी
३. मारुती	४. वारुणी

१७. आसनस्थित होकर मेरे आधारभूत स्थान (समुद्र, पर्वत आदि) विशाल और विशद है—ऐसा अनुभव करना चाहिए।

१८. फिर उन पर अपने को स्थित मानकर अपने सर्वशक्ति-सम्पन्न

वीतराग स्वरूप की अनुभूति करनी चाहिए। अनुभूति को पुष्ट करते-करते चित्त उसी मे विलीन हो जाना चाहिए। यह पार्थिवी धारणा है।

१९. नाभिकमल प्रज्वलित होने के कारण सब दोष दग्ध हो रहे हैं—इस अनुभूति को आग्नेयी धारणा कहा जाता है।

नाभिकमल स्थित त्रिकोण अग्निकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो रही है, उससे सारे दोष भस्म हो रहे हैं —ऐसी धारणा करते-करते चित्त उसमे लीन हो जाना चाहिए।

२०. नाभिकमल मे दोषों के चलने से जो भस्म होती है, उसे तेज वायु का झोका उड़ाकर ले जा रहा है—ऐसा चिन्तन करना मारुती धारणा है।

२१. शेष भस्म का प्रक्षालन करने के लिए विशाल मेघराशि की अनुभूति करने को वारुणी धारणा कहा जाता है।

२२ ॐ, ह्री, ई, णमो अरहताण, अ सि आ उ सा आदि शब्द-मंत्रो, श्रुत (शब्दो या नामो) का आलम्वन ले जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहा जाता है।

२३. जिस ध्यान मे सस्थान (आकृति विशेप) का आलम्वन लिया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

२४. सर्वमलातीत ज्योतिर्मय आत्मा के अमूर्त स्वरूप का आलम्वन लेने को रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

२५. ध्यान के प्रारम्भ मे स्वाध्याय होता है, चिन्तन होता है, फिर भी ध्यान और स्वाध्याय एक नही हैं। स्वाध्याय में विपय की तन्मयता नही होती, समरसीभाव नही होता। ध्यान मे तन्मयता होती है, समरसीभाव होता है। ध्यान करने वाला चिन्तन करते-करते उसमे लीन हो जाता है, तन्मय हो जाता है। यह तन्मयता या लय ही ध्यान है। इस दशा मे ध्येय और ध्याता मे अभेद हो जाता है। परमात्मा के ज्योतिर्मय या आनन्दमय स्वरूप मे लीन होकर ध्याता स्वय वैसा वन जाता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान शब्द की कल्पना करते ही हमारे सामने दो स्थितियां उभर आती हैं :

१. मन की एकाग्रता।

२. मन का निरोध।

एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। वह किसी वस्तु या अवस्था पर निर्भर होती है। एकाग्रता की तुलना उस बच्चे से की जा सकती है जो माता की अंगुली के सहारे चलने का अभ्यास करता है। निरोध की तुलना उस किशोर से हो सकती है जो अपने पैरों के बल चलने लग जाता है। पहले कोई परिकल्पना की जाती है, फिर उस पर मन को स्थिर किया जाता है, यह एकाग्रता है। इसमें मन की स्थिरता लक्ष्य के सहारे होती है, इसलिए इस एकाग्रतात्मक धर्म को सालम्बन ध्यान कहा जाता है।

मन का निरोध विषय-शून्यता की स्थिति में होता है। जब मन खाली हो जाता है, उसके सामने कोई खाली विषय नहीं रहता तब वह अपने आप निरुद्ध हो जाता है। जब मन में कोई कल्पना नहीं होती तब उसके सामने कोई शब्द नहीं होता, कोई आकार नहीं होता। शब्द और रूप के अभाव मे वह निरालम्बन हो जाता है और निरालम्बन होने का अर्थ है कि उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। यही निरालम्बन ध्यान है।

ध्यान के आलम्बन असंख्य हो सकते हैं किन्तु ध्यान की लम्बी परम्परा मे साधक वर्ग ने कुछ विशेष अनुभव प्राप्त किये हैं। उनके आधार पर ध्यान के आलम्बनों का वर्गीकरण किया गया है। वह वर्गीकरण ध्यान के प्रकारो का निमित्त बना है।

स्थूल व्यवहार की भाषा में एकाग्रता को हम एक कोटि में रख देते है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उसकी असंख्य कोटियां हैं। एक व्यक्ति एक क्षण मे जितना एकाग्र होता है, दूसरे क्षण में उससे अधिक या कम एकाग्र भी हो सकता है। एक आदमी जितना एकाग्र होता है, दूसरा उससे कम या अधिक भी हो सकता है। इस प्रकार काल-क्रम और व्यक्ति-भेद की दृष्टि से एकाग्रता की असंख्य कोटियां हो जाती हैं। इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के असंख्य प्रकार हो जाते हैं। किन्तु इस सूक्ष्म पद्धति के आधार पर ध्यान की कोटियां निश्चित नहीं की गई हैं। उसकी चार कोटियां है

और वे आलम्बन के वर्गीकरण के आधार पर निर्धारित की गई हैं। आलम्बन चार रूपों में वर्गीकृत है :

१. पिण्ड (शरीर) ३ रूप (आकार)
२. पद (शब्द) ४. रूपातीत (निराकार)

इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के चार प्रकार बन जाते है :

१. पिण्डस्थ—पिण्ड के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
२. पदस्थ—पद के आलम्बन से होनी वाली एकाग्रता।
३. रूपस्थ—रूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
४. रूपातीत—अरूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थ ध्यान में शरीर का आलम्बन लिया जाता है। आत्मा और शरीर मे एकत्व नही है, किन्तु उनका संयोग है। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन। अतः आत्मा और शरीर स्वरूप की दृष्टि से भिन्न हैं। शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति में सहयोग करता है, इसलिए उसमें सर्वथा भेद भी नहीं है। इस दृष्टि से सशरीर आत्मा न केवल चेतन और न केवल अचेतन है, किन्तु जात्यान्तर है—चेतन और अचेतन का सयोग है। प्राणशक्ति, भाषा, इन्द्रिय और चिन्तन—ये न चेतन के लक्षण है और न अचेतन के लक्षण हैं किन्तु चेतन और अचेतन की समन्वित अवस्था के लक्षण हैं। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति और शरीर का पौद्गलिक सहयोग, ये दोनो मिलकर सशरीर आत्मा के अस्तित्व को प्रकट करते है।

शरीर के पांच प्रकार हैं :

औदारिक—यह अस्थि-मांसमय स्थूल शरीर है।

वैक्रिय—यह अस्थि-मासरहित स्थूल शरीर है। यह योगी के भी हो सकता है।

आहारक—यह योगज शरीर है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान मे प्रेपित किया जा सकता है।

तैजस—यह विद्युत् शरीर है।

कार्मण—यह मूल शरीर या संस्कार शरीर है।

तैजस और कार्मण दोनों सूक्ष्म शरीर है।

चैतन्य का विस्तार बाह्यजगत् की ओर होता है, तब उसकी गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर होती है और जब वह बाह्यजगत् से अन्तर्जगत् में लौटता है तब उसकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है।

स्थूल शरीर की निष्पत्ति कार्मण शरीर के होने पर होती है, इस दृष्टि से वह सब शरीरों का मूल कारण है। स्थूल शरीर भवान्तरगामी नहीं होते। सूक्ष्म शरीर भवान्तरगामी होते हैं। उनमे भी भवान्तरगमन के संस्कार कार्मण शरीर में सचित रहते है। इस दृष्टि से यह संस्कार शरीर भी है।

आत्मा का सबसे निकट सम्पर्क कार्मण शरीर से है। आत्मा के चैतन्य और वीर्य सर्वप्रथम इसी मे सक्रान्त होते है। तैजस शरीर उन्हे स्थूल शरीर तक पहुंचाता है और स्थूल शरीर के द्वारा वे अभिव्यक्त होते है। इस प्रकार आत्मा के चैतन्य और वीर्य कार्मण शरीर, तैजस शरीर और स्थूल शरीर की क्रमिक प्रक्रिया से बाह्यजगत् तक पहुचते है और वे विपरीत प्रक्रिया से बाह्यजगत् के प्रभाव को आत्मा तक पहुंचाते हैं। वाह्यजगत् का प्रभाव सर्वप्रथम स्थूल शरीर पर होता है। उसे तैजस शरीर कार्मण शरीर तक ले जाता है और कार्मण शरीर के माध्यम से वह आत्मा तक पहुंचता है। इस प्रकार तैजस शरीर प्रेषण के माध्यम का काम करता है। योग के आचार्यो ने तेजोमय आत्मा की परिकल्पना की है। आत्मा की तेजोमयता की परिकल्पना का निमित्त यह तैजस शरीर ही है।

कार्मण और तैजस शरीर सूक्ष्म शरीर है, इसलिए इनके अवयव नही है। वे अवयव-विहीन शरीर है। वे स्थूल शरीर के अवयवो मे परिव्याप्त है। साधारणतया वे समूचे शरीर मे परिव्याप्त है किन्तु शरीर के कुछ भागो मे वे विशेष रूप से केन्द्रित है। ये केन्द्रित भाग चैतन्य की अभिव्यक्ति के मुख्य केन्द्र है। पिण्डस्थ ध्यान मे इन्ही केन्द्रों पर मन को एकाग्र किया जाता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के शारीरिक केन्द्र ये है :

१ सिर	६. नेत्र
२. भ्रू	७. कान
३ तालु	८. नासाग्र
४. ललाट	९. हृदय
५ मुह	१०. नाभि

इन केन्द्रो पर ध्यान करने से मन की एकाग्रता सरलता से सधती है और आंतरिक ज्ञान विकसित होता है।

पिण्डस्थ ध्यान में चक्रों का आलम्बन भी लिया जाता है।

चक्र

'संसारिणां वीर्य निमित्तापेक्षं—ससारी जीव की समस्त शक्तियो का उपयोग निमित्त के योग से ही होता है। जीव मे चैतन्य है, किन्तु उसका उपयोग इन्द्रियगोलको और ज्ञानवाहक स्नायु-गुच्छकों के माध्यम से होता है। जीव मे वीर्य है किन्तु उसका उपयोग कर्मेन्द्रियों व क्रिया-तंतुओ के माध्यम से होता है। ज्ञानवाहक स्नायु-गुच्छकों का सम्बन्ध सुषुम्ना नाडी और पृष्ठरज्जु से है। उन्हीं सुषुम्नागत ज्ञानवाही गुच्छकों को चक्र कहा गया है। वे ज्ञान की अभिव्यंजना के निमित्त हैं, इसलिए उन पर मन को एकाग्र करने से उनमें प्राणधारा प्रवाहित होती है। ज्ञान के सहायक तन्तु सक्रिय हो जाते है।

चक्रों के नाम, स्थान आदि अगले पृष्ठ पर देखिए—

वासना-क्षय की दृष्टि से स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान करने का वहुत महत्त्व है।

मणिपुर चक्र पर ध्यान करने से शारीरिक आरोग्य बढता है किन्तु उससे कामशक्ति प्रबल होती है, इसलिए ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है कि वह मणिपुर चक्र पर ध्यान करने के पश्चात् प्राणधारा को हृदय चक्र में प्रवाहित कर विशुद्धि चक्र तक ले जाए। उसमे उस कामशक्ति का शोधन हो जाता है।

आज्ञा चक्र या भृकुटि चक्र का वहुत महत्त्व है क्योकि इस स्थान मे इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—तीनों का सगम होता है। इसके जागरण से अन्य चक्रों का जागरण सहज हो जाता है और इसका जागरण अन्य चक्रों की अपेक्षा अधिक कठिन और अधिक अभ्यास-सापेक्ष है।

मूलाधार चक्र से ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी वनाया जाता है। उसके ऊर्ध्वगामी होने से मनुष्य की वृत्ति आन्तरिक हो जाती है। ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण का यह आदि विन्दु है। इसलिए साधना मे इसका वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनाहत चक्र प्राणवायु का स्थल और ओजस का मुख्य केन्द्र है—

नाम	स्थान	दल	वर्ण	दल बीजाक्षर	ज्योति	फल
शक्ति केन्द्र मूलाधार	गुदा और लिंग का मध्यवर्ती	४	रक्त	वं, शं, षं, स	शिखाकार स्वर्णिम ज्योति का ध्यान	अध्यात्म-विद्या प्रवृत्ति, आरोग्य
स्वास्थ्य स्वाधिष्ठान	पेडू	६	सिंदूरी	बं, भं, मं, यं, र, लं	बिजली की रेखा का ध्यान	वासनाक्षय, ओजस्विता
तैजस् मणिपुर	नाभि	१०	नील	डं, ढ, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं	बाल-सूर्य का ध्यान	आरोग्य, आत्म-साक्षात्कार, ऐश्वर्य
आनंद अनाहत	हृदय	१२	अरुण	कं, खं, गं, घं, ङ, चं, छ, जं, झं, टं, ठं	अग्निशिखा का ध्यान	यौगिक उपलब्धियां, आत्मस्थता
विशुद्धि विशुद्ध	कण्ठ	१६	धूम्र	अं से अः तक	दीपशिखा का ध्यान	कामना-विजय
दर्शन आज्ञा	भ्रू मध्य	२	श्वेत	ह, क्षं	शरच्चन्द्र की ज्योति का ध्यान	अन्तर्ज्ञान, वाक्सिद्धि
ज्ञान सहस्रार	मस्तिष्क	५०	अवर्ण	अं से क्ष तक	प्रचण्ड तेज का ध्यान	मुक्ति

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः

—चरक, सूत्रस्थान ३०/७

विकल्प-शून्यता की प्राप्ति के लिए हृदय-चक्र पर ध्यान देना और उसकी गहराई में उतरना बहुत ही उपयोगी है। हृदय-चक्र पर ध्यान करने से ग्रंथि-भेद हो जाता है। उससे आत्म-साक्षात्कार सुलभ हो जाता है।

चक्रों पर ध्यान करने से ज्ञानतंतु जागृत होते हैं, किन्तु उन्हें जागृत करने का एकमात्र यही उपाय नहीं है। संयम की प्रखर साधना और प्रबल वैराग्य हो तो चक्रों पर ध्यान किए बिना ही वे जागृत हो जाते हैं।

प्रेक्षा का अर्थ है—प्रकृष्ट या गहरे में उतरकर देखना। हम बाहर की ओर देखते ही है। हमारी इन्द्रियां और मन, इन सबकी गति बहिर्मुखी है। प्रेक्षा इसका विपरीत क्रम है। इसके द्वारा इन्द्रियां और मन अन्तर्मुखी बनते है। हमारे शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। उसके कई हेतु हैं, जैसे—सर्दी, गर्मी आदि बाहरी वातावरण, भोजन, वर्तमान चित्तपर्याय और कर्म का उदय। जब हम प्रयत्नपूर्वक कर्म का शीघ्र विपाक कर उसे उदय मे लाते हैं तब और अधिक रासायनिक परिवर्तन होता है। इस रासायनिक परिवर्तन को प्रेक्षा के द्वारा देखा जा सकता है।

प्रेक्षा करते-करते मन सूक्ष्म और संवेदनशील हो जाता है और समूचे शरीर के ज्ञान तन्तु जागृत हो जाते हैं। इसलिए शरीर मे होने वाले रासायनिक परिवर्तनों को सहज ही जाना जा सकता है।

प्रेक्षा के विशेष प्रयोग

मन को सिर से पांव तक ले जाना, शरीर के प्रत्येक अवयव मे चेतना को प्रवाहित करना और साथ-साथ वेदना को देखना और उसके प्रति तटस्थ रहना प्रेक्षा का पहला चरण है। इसके वाद अर्धचेतन और अवचेतन मन के स्तर पर होने वाली प्रतिक्रियाओं और कर्म विपाको को देखना, यह प्रेक्षा का अग्रिम चरण है। देखना और तटस्थ रहना ये दोनो मिलकर प्रज्ञा को जागृत करते है। उसके जागृत होने पर मोह-चक्र टूट जाता है।

सिर से पांव तक और पांव से सिर तक प्रत्येक अवयव को देखने का अभ्यास पुष्ट हो जाए और दर्शन के साथ-साथ चैतन्य का कण-कण झंकृत हो जाए तब एक साथ कई अवयवों पर मन को ले जाना चाहिए। इसका अभ्यास पुष्ट होने पर समूचे शरीर पर एक साथ मन को ले जाना चाहिए। इस अभ्यास से मन पर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। फिर हम उसे जहां ले जाना चाहें वहां वह चला जाता है और जहां स्थिर करना चाहें वहां वह स्थिर हो जाता है।

प्रेक्षा मे विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि अप्रमाद निरन्तर बना रहे। प्रिय संवेदन के प्रति राग और अप्रिय संवेदन के प्रति द्वेष न जागे। एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व हो, वह प्रेक्षा का उद्देश्य नही है। पर वह इसका सशक्त साधन है। वह इससे सधती है। पहले से सधी हुई हो तो प्रेक्षाकाल मे वह बहुत उपयोगी बन जाती है।

चित्त को किसी निश्चित देश मे स्थिर करना धारणा है। वह शरीर या उससे भिन्न अन्य वस्तुओं पर की जा सकती है। देहाश्रित धारणाएं पिण्डस्थ ध्यान की कोटि में समाविष्ट होती हैं। धारणा के चार प्रकार है–

१. पार्थिवी   ३. मारुती
२. आग्नेयी   ४. वारुणी

इनका सम्बन्ध पार्थिव, तैजस, वायवीय और जलीय तत्त्वों से है। साधक ध्यान करने के लिए बैठे और यदि उसे दैहिक धारणाओं के द्वारा पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करना हो तो वह सर्वप्रथम किसी विशाल और निर्मल स्थान पर बैठने की अनुभूति करे और उस अनुभूति को इतना पुष्ट बनाए कि उसे प्राप्त अनुभूति में तन्मयता प्राप्त हो जाए। उस विशाल और निर्मल आसन पर स्थित होकर अपने पार्थिव शरीर में असीम शक्ति का अनुचिन्तन करे। यह धारणा की पहली कक्षा–पार्थिवी धारणा है।

आचार्य रामसेन पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि के लिए मारुती, तैजसी और जलीय–इन तीनो धारणाओं को मान्य करते हैं :

तत्रादौ पिण्ड-सिद्ध्यर्थं, निर्मलीकरणाय च।
मारुती तैजसीमाप्यां, विदध्याद् धारणां क्रमात्॥

–तत्त्वानुशासन–१८३

शरीर में अग्नि का स्थान मणिपूर चक्र या नाभिकेन्द्र है। हमारे तैजस शरीर का मुख्य केन्द्र यही है। इस स्थान में तैजस का दृढ़ और चिरन्तन चिन्तन करने से तैजस शरीर जागृत और अधिक क्रियाशील हो जाता है। दृढ़ संकल्प के द्वारा उसे सक्रिय बनाकर उसके द्वारा समस्त दोषो के क्षय होने का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषक्षय की क्रिया सम्पन्न की जाती है।

इसके पश्चात् तीसरी कक्षा में मारुती धारणा का उपयोग किया जाता है। पवन का काम सफाई करना है। आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषों का दहन होने पर जो भस्म हो जाती है, उसे शरीर के बाहर ले जाने के लिए मारुती धारणा का प्रयोग किया जाता है। समूचे शरीर में चारों ओर से तेज हवा का प्रवेश हो रहा है और वह नाभिकमल स्थित भस्म को उडाकर बाहर ले जा रही है। इस प्रकार की तीव्र अनुभूति करते-करते साधक को आत्मस्थता का अनुभव होने लगता है।

चौथी कक्षा में अवशेषों की शुद्धि के लिए वारुणी धारणा का उपयोग किया जाता है। मारुती धारणा के द्वारा दोष-भस्म को बाहर ले जाने पर भी जो कुछ शेष रह जाता है, उसे वारुणी धारणा के द्वारा साफ कर दिया जाता है। साधक अनुभव करता है कि गहरे बादल उमड रहे हैं। घनघोर वृष्टि हो रही है। उसका जल शरीर मे प्रवेश कर नाभिकमल को पखाल रहा है और वह अत्यन्त निर्मल हो रहा है। इस निर्मलता की अनुभूति के साथ अपने आत्मस्वरूप की निर्मलता मे विलीन हो जाए और फिर धारणा से ध्यान की स्थिति मे पहुच जाए।

धारणा के अनेक रूप और प्रकार हो सकते है। इसलिए इसकी व्याख्या भी अनेक रूपो मे की गई है।

पार्थिवी द्रव्यों—चित्र, मूर्ति आदि पर चित्त को स्थिर करना पार्थिवी धारणा है।

दीप आदि तेजोमय पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करना आग्नेयी धारणा है।

वायु के स्पर्श का श्वास-प्रश्वास पर मन को स्थिर करना मारुती धारणा है।

जलाशय के तट पर वैठकर शान्त जल पर दृष्टि को स्थिर करना

वारुणी धारणा है।

धारणा ध्यान की प्रथम तैयारी है। इसमें चित्त पूर्णतः स्थिर नही होता किन्तु वह एक दिशा में होते-होते ध्यान की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देता है। फिर साधक धारणा से मुक्त होकर ध्यान की कक्षा में चला जाता है।

पदस्थ ध्यान

यह ध्यान पदों—मंत्रों व वीजाक्षरो के आलम्बन से किया जाता है। पिण्डस्थ ध्यान जैसे देहावलम्बी है, वैसे पदस्थ ध्यान शब्दावलम्बी है। पिण्डस्थ ध्यान मे देहवर्ती चैतन्य-केन्द्र, देह की अनुप्रेक्षा तथा देह और आत्मा की पृथक्ता—ये मुख्य ध्येय बनते हैं। पदस्थ ध्यान में भी शब्द की सूक्ष्म शक्ति, उसके सूक्ष्म और स्थूल उच्चारण की प्रक्रिया और शव्दवर्ती अर्थ के साथ तन्मयता—ये मुख्य ध्येय होते है। इस ध्यान के आधार पर ध्यान-मत्रो का पर्याप्त विकास हुआ है।

जप भी शब्दावलम्बी होता है और पदस्थ ध्यान भी शब्दावलम्बी होता है। ये दोनो किसी रेखा पर भिन्न होते हैं और किसी रेखा पर अभिन्न हो जाते है। जप का अर्थ है—शब्द की अर्थात्मा में तन्मय हो जाना। पदस्थ ध्यान में भी यही तन्मयता अपेक्षित है।

जप के तीन प्रकार है :

१ वाचिक

२. उपांशु

३. मानसिक

उच्चारणपूर्वक किया जाने वाला जप वाचिक होता है। मन्द उच्चारण—होठो से बाहर न निकलने वाले उच्चारण के द्वारा जप उपांशु होता है। उच्चारण से अतीत केवल मानसिक चिन्तन के रूप मे किया जाने वाला जप मानसिक होता है। वाचिक जप से उपांशु और उपाशु जप से मानसिक जप में शव्द की ऊर्मिया सूक्ष्म होती है और सूक्ष्म होने के कारण वे अधिक शक्तिशाली होती हैं। इसी आधार पर वाचिक की अपेक्षा उपाशु और उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप अधिक शक्तिशाली होता है।

जप पदस्थ ध्यान की पूर्वावस्था है। प्रारम्भ में वाचिक जप का अभ्यास करना चाहिए। उसका अभ्यास हो जाने पर उपांशु जप का अभ्यास होना चाहिए। उसके पश्चात् मानसिक जप का अभ्यास करना चाहिए। मानसिक जप की अवस्था जब ध्येय पर एकाग्र हो जाती है, तव वह पदस्थ ध्यान के रूप में बदल जाती है। वाचिक जप में पद का उच्चारण स्थूल होता है। उपांशु जप में वह सूक्ष्म हो जाता है। मानसिक जप में वह चिन्तन का आकार ले लेता है। पदस्थ ध्यान में वह दृश्य बन जाता है।

पदस्थ ध्यान के लिए इष्ट मंत्रों का चुनाव अपनी भावना, रुचि और श्रद्धा के आधार पर किया जा सकता है।

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान

द्रव्य दो प्रकार के होते है—रूपी और अरूपी। आत्मा अरूप है। पुद्‌गल रूपी है। वह रूपी होने के कारण इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। आत्मा का इन्द्रिय के द्वारा इसलिए ग्रहण नही होता क्रि वह अरूप है। ध्यानकाल में ये दोनो प्रकार के द्रव्य ध्येय बनते है। रूपी ध्येय स्थूल होता है और अरूपी ध्येय सूक्ष्म। इसीलिए साधक प्रारम्भ में रूपी ध्येय का आलम्वन लेता है। उस पर मन की एकाग्रता सध जाने पर वह अरूपी ध्येय पर ध्यान का अभ्यास करता है। रूपी ध्येय मे परमाणु से लेकर किसी वडे से वड़े आकार का आलम्बन लिया जा सकता है। वैसे पिण्डस्थ ध्यान भी रूपस्थ ध्यान से भिन्न नही है। शरीर स्वयं रूपी है। उस पर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान ही है। शव्द भी रूपी है। उस पर ध्यान करना भी रूपस्थ ध्यान है।

किन्तु शरीर और शव्द की अपनी विशेपता है, इसलिए उन्हे रूपस्थ ध्यान से पृथक् स्थान दिया गया है। शरीर मे चैतन्य की अभिव्यंजना होती है, इसलिए वाहरी रूपी ध्येयों की अपेक्षा शरीरगत ध्येय अधिक सफल होता है। शव्द का भी चैतन्य केन्द्र से निकट का सम्वन्ध होता है, इसलिए उसका भी अपना विशेप महत्त्व है। शरीर और शव्द के अतिरिक्त शेप जितने रूपी ध्येय होते है, वे सव रूपस्थ ध्येय की कोटि मे आते है।

रूपातीत ध्यान में अरूप आत्मा का आलम्बन लिया जाता है। हम उसे साक्षात् देख नही पाते है। शाब्दिक ज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप को निश्चित कर उस पर मन को एकाग्र करते हैं। रूपातीत ध्यान शाब्दिक भावना के माध्यम से होता है। वह माध्यम निरालम्बन ध्यान की स्थिति मे ही छूट सकता है।

आचार्य रामसेन ने रूपस्थ और रूपातीत दोनों को पिण्डस्थ ध्यान माने जाने के अभिमत का उल्लेख किया है। उसका आशय यह है कि ध्येय-अर्थ ध्याता के पिण्ड (देह) मे स्थित होकर ही ध्यान का विषय बनता है, इसलिए चेतन और अचेतन दोनो का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है ·

ध्यातुः पिण्डस्थितश्चैव, ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः।
ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन॥
—तत्त्वानुशासन—१३४

२६. निर्विचारं निरालम्बनम्॥

२६ निर्विचार (विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत) ध्यान को निरालम्बन कहा जाता है।

निरालम्बन ध्यान

सालम्बन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है। एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार-शून्यता है। ध्यान के आरम्भ काल मे किसी एक लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता होती है और अन्त मे वह लक्ष्य छूट जाता है। केवल चित्त की स्थिरता रह जाती है। इसीलिए अनेक साधको का यह अनुभव है कि सालम्वन ध्यान मे योग्यता प्राप्त कर लेने पर निरालम्बन ध्यान की योग्यता स्वयं प्राप्त हो जाती है।

कुछ साधक भिन्न प्रकार से सोचते हैं। उनका चिन्तन है कि सालम्बन ध्यान परावलम्वी ध्यान है। उनकी दृष्टि मे उसकी उपयोगिता नही है। उनका मानना है कि प्रारम्भ से ही विचार-शून्यता का अभ्यास करना चाहिए।

विचार-शून्यता ध्यान की वास्तविक स्थिति है, इसमे कोई सन्देह नहीं। सालम्बन ध्यान मे ध्याता और ध्येय भिन्न होते है, जवकि निरालम्बन ध्यान मे ध्याता और ध्येय के वीच मे कोई भेद नही होता। सालम्बन ध्यान में चित्त बाह्य विषयों पर स्थित होता है जबकि निरालम्वन ध्यान मे वह आत्मगत हो जाता है—जिस चैतन्य केन्द्र से वह प्रवाहित होता है, उसी में जाकर विलीन हो जाता है। निरालम्वन ध्यान से आत्मा की आवृत और सुषुप्त शक्तिया जितनी जागृत होती है, उतनी सालम्वन ध्यान से नही होती। सालम्बन ध्यान का प्रभाव मुख्य रूप से नाडी-सस्थान और चित्त पर होता है। निरालम्बन ध्यान का मुख्य प्रभाव चैतन्य केन्द्र पर होता है।

प्रश्न केवल क्षमता का है। यदि किसी साधक मे निरालम्वन ध्यान की क्षमता सहज हो तो उसे सालम्बन ध्यान की अपेक्षा नही होगी किन्तु जो साधक प्रारम्भ मे निरालम्बन ध्यान न कर सके, उसके लिए इस अभ्यास का महत्त्व है कि वह सालम्बन ध्यान के द्वारा निरालम्वन ध्यान की योग्यता प्राप्त करे।

निरालम्बन ध्यान की कुछ पद्धतियां हे। उन्हे जान लेने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अग है—प्रयत्न की शिथिलता। सालम्बन ध्यान मे जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल किया जाता है, उसी प्रकार निरालम्वन ध्यान मे मन का प्रयत्न भी शिथिल कर दिया जाता है। निरालम्वन ध्यान वस्तुत· अप्रयत्न की स्थिति है।

दूसरा अग—निरभ्र आकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाइए। थोडे समय मे चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

तीसरा अंग—केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिए। मन विचार-शून्य हो जाएगा।

चौथा अंग—मानसिक विचारो को समेटकर चित्त को हृदय-चक्र की ओर ले जाइए। फिर गहराई मे उतरने का अनुभव कीजिए। ऐसा करते ही चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

पांचवा अग—आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ कर उसके सान्निध्य का अनुभव कीजिए। वह सहज शान्त और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतिया है, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ वनाया जा सकता है किन्तु उन सब में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है—अप्रयत्न—प्रयत्न का विसर्जन।

२७ **शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः॥**

२८ **विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा॥**

२६ **संतुलनं वा॥**

३० **रागद्वेषाभावे चित्तस्य समत्वं संतुलनम्॥**

३१. **समत्व-विनय-श्रुत-तपश्चारित्रभेदात् स पञ्चधा॥**

३२ **रागद्वेष-विकल्पशून्यत्वात्, मान-विकल्पशून्यत्वात्, चित्तस्थैर्यानुभवात्, भेद-विज्ञानानुभवात्, समत्वादीनिसमाधिपदवाच्यानि॥**

२७. शुद्ध चैतन्य के अनुभव को समाधि कहा जाता है।

२८ विकल्पशून्यता होने पर चित्त समाहित हो जाता है, उसे भी समाधि कहा जाता है।

२६. संतुलन को भी समाहित कहा जाता है।

३०. रागद्वेप के अनुदय मे चित्त की समता का प्रकट होना सतुलन है।

३१. समाधि के पांच प्रकार है—

१. समत्व ३. श्रुत

२. विनय ४ तप

५ चारित्र

३२ समत्व मे रागद्वेपात्मक विकल्प नही होता इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। विनय मे अभिमान का विकल्प नही होता इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। श्रुत मे चित्त की स्थिरता का अनुभव होता है इसलिए उसे समाधि कहा जाता है। तप और चारित्र मे भेद-विज्ञान का अनुभव होता है इसलिए उन्हे समाधि कहा जाता है।

समाधि

समाधि का अर्थ—चित्त की एकाग्रता और उसका निरोध। महर्पि

पतंजलि ने अष्टाग योग में धारणा, ध्यान और समाधि--इन तीन अंगो का प्रतिपादन किया है।

बौद्ध साधना पद्धति मे समाधि का अर्थ चित्त और चैतसिक का दृढ स्थिरीकरण है। मन ध्यान-वस्तु में स्थिर हो जाता है, क्योंकि मन के साथ रहने वाले मानसिक तथ्य (चैतसिक) पवित्र होते हैं और वे मन को स्थिर होने में सहयोग देते है। दृढ स्थिरीकरण का अर्थ है --मन का एक वस्तु में स्थिर होना। इसमें और किन्ही बाधाओ और दोषो का समावेश नहीं होता।

जैन साधना पद्धति मे समाधि का अर्थ है--शुद्ध चैतन्य का अनुभव या चित्त का समाधान या चित्त का सन्तुलन। धारणा, ध्यान और समाधि--ये तीनों एक ही तत्त्व की तीन अवस्थाएं है। धारणा का प्रकर्ष ध्यान और ध्यान का प्रकर्ष समाधि है। धारणा चित्त की एकाग्रता से शुरू होती है, ध्यान मे एकाग्रता परिपुष्ट हो जाती है और समाधि मे वह निरोध की अवस्था मे वदल जाती है।

चित्त की एक वृत्ति के शान्त होने पर दूसरी वृत्ति उसी के अनुरूप उठे और उस प्रकार की अनुरूप वृत्तियो का प्रवाह चलता रहे, उसका नाम चित्त की एकाग्रता है। चित्त की मूढ़ अवस्था में राग और द्वेष का उदय प्रवल होता है, इसलिए उसमे संतुलित एकाग्रता नही होती। उस अवस्था मे असंतुलित एकाग्रता आर्त्त और रौद्र ध्यान की एकाग्रता हो सकती है किन्तु आत्मिक विकास के लिए उसका कोई उपयोग नही है। वह दोपपूर्ण एकाग्रता है। वह संतुलित चित्त की एकाग्रता मे वाधक वनती है। विक्षिप्त और यातायात चित्त की एकाग्रता सामयिक होती है। जिस समय चित्त मे स्थिरता प्रकट होती है, उस समय अस्थिरता तिरोहित हो जाती है। कुछ समय वाद अस्थिरता आती है और स्थिरता चली जाती है। इन दोनो भूमिकाओ के साधक कभी अपने को समाधि अवस्था मे अनुभव करते है और कभी असमाधि अवस्था मे। उनका आचरण वार-वार वदलता रहता है। श्लिष्ट और सुलीन चित्त की इन दो भूमिकाओ मे एकाग्रता का मूल सुदृढ होता है। श्लिष्ट चित्त की एकाग्रता को धारणा और सुलीन चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जा सकता है। इन दोनो को एक शब्द मे धर्म्यध्यान कहा जा सकता है।

चित्त की छठी भूमिका निरुद्ध है। इसे शुक्लध्यान कहा जा सकता है। शुक्ल ध्यान को उत्तम समाधि, धर्म्यध्यान को मध्यम समाधि और धारणा को प्राथमिक समाधि कहा जा सकता है। धर्म्यध्यान की एकाग्रता चिरस्थायी होती है इसलिए उससे मन समाहित हो जाता है, वशीभूत हो जाता है। उसे बाधाएं परास्त नही कर सकती। शुक्लध्यान मे चित्त का चिरस्थायी निरोध हो जाता है। उससे वृत्तियां क्षीण होती है। धारणा मे चित्त सतुलित होता है, ध्यान मे समाहित और समाधि मे केवल चैतन्य का अनुभव शेष रहता है।

समाधि के पाच प्रकार अभ्यास की दृष्टि से किए गए है। रागात्मक और द्वेषात्मक विकल्प से शून्य चित्त की अवस्था में समाधि उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से समाधि का कोई भेद नहीं होता किन्तु वह विकल्प-शून्य अवस्था मे अनेक अभ्यासो और प्रयोगों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उसे कई भागो मे विभक्त भी किया जा सकता है।

समाधि का एक प्रयोग है समत्व। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों मे सम (उदासीन या तटस्थ) रहने का अभ्यास करते-करते राग और द्वेष के विकल्प शान्त हो जाते है—चित्त समाहित हो जाता है।

चित्त की असमाधि का हेतु है—अभिमान। मनुष्य जितना परिग्रही होता है, उतना ही अभिमानी होता है। परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, आसक्ति। जो वैभव, सत्ता आदि पदार्थो मे मूर्च्छित होता है और यह मानता है—मेरे पास वैभव है, अधिकार है, मेरे पास यह है, वह है। ऐसा मानने वाला अभिमान के विकल्प से भरा रहता है। समाधि चाहने वाला परिग्रह को छोडता है—मूर्च्छा और आसक्ति का परित्याग करता है। फिर वह इस भावना का अभ्यास करता है कि मेरा कुछ भी नही है। इस अभ्यास से उसके अभिमान विकल्प का विलय हो जाता है। उसे चित्त-समाधि प्राप्त हो जाती है।

जिससे चित्त चंचल होता है, वह ज्ञान समाधि का हेतु नही होता। समाधि चित्त की स्थिरता मे ही निष्पन्न होती है। विकल्प और अशान्ति दोनो साथ-साथ जन्म लेते है। जैसे-जैसे विकल्प बढते जाते है, वैसे-वैसे अशाति वढती जाती है। विकल्प को क्षीण करने का पहला उपाय है—चित्त की एकाग्रता। जैसे-जैसे अन्तरात्मा का वोध जागृत होता है, वैसे-वैसे

हमारी चेतना बाह्य वस्तुओं से विरत हो जाती है और चित्त एकाग्र हो जाता है। हम सूचनात्मक ज्ञान का संकलन करें या न करे, यह यहां प्रासगिक नही है। हम अपने अन्तश्चैतन्य को जागृत करे और उससे जो श्रुत (ज्ञान) की धारा प्रवाहित हो, उसका उपयोग करें। चित्त अपने आप समाहित होगा।

चेतना और शरीर —ये दोनो परस्पर मिले हुए है। स्थूल शरीर बदलता रहता है किन्तु सूक्ष्म शरीर और चेतना—ये दोनो धाराप्रवाह रूप मे जुडे रहते है। चेतना के द्वारा शरीर को ज्ञान का आलोक और शक्ति प्राप्त होती है। शरीर के द्वारा चेतना को अभिव्यक्ति मिलती है और शक्ति के प्रयोग का क्षेत्र मिलता है। दोनों पारस्परिक सहयोग के कारण अभिन्न जैसे प्रतीत होते है। यह अभेद बोध की चेतना के शरीर निरपेक्ष विकास में अवरोध पैदा करता है। इस अभेद बोध की परिस्थिति मे राग और द्वेष पनपते है। उनके सस्कार चित्त को चंचल बनाए रहते है। उस चचलता को मिटाने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—भेद-विज्ञान—चेतना और शरीर मे भिन्नता का वोध।

शरीर और चेतना भिन्न हैं—यह हमने सुना या पढ़ा। हमे वोध हो गया कि शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है इसलिए वे दोनो भिन्न है। यह बोध केवल श्रुति-वोध है। इस वोध को हम साधना का आदि विन्दु बना सकते है किन्तु इसे निष्पत्ति नही मान सकते। इस श्रुति-वोध को स्वयं का वोध वनाने के लिए दो प्रयोग किए जाते है—एक तप का और दूसरा चरित्र का। हम कम खाते है या कुछ दिनो तक नही खाते। शरीर के लिए खाना जरूरी है और हम नही खाकर उसके नियम का अतिक्रमण करते है। उस अतिक्रमण का शरीर विरोध करता है। उस विरोध के काल में यदि हम भेद-ज्ञान का अनुभव कर चेतना को मुख्यता देते है तो भेद-विज्ञान अभ्यास के स्तर पर आ जाता है। हम आसन साधते है। शरीर की मांग नही है कि हम दो या तीन घंटे एक आसन में वैठे रहे। हम ध्यान करते है। वाह्य वातावरण से हट जाते है और ज्ञात विपयो की विस्मृति हो जाती है। हम आने वाली हर कठिनाई को हसते-हंसते झेल लेते हैं। ये सव तप और चारित्र के प्रयोग भेद-विज्ञान के प्रयोग है। इनके द्वारा हमारा भेद-विज्ञान पुष्ट होता है। हम इस विन्दु

पर पहुंच जाते है कि जो अप्रिय लग रहा है, कष्ट हो रहा है, वह सव दैहिक संस्कार के कारण हो रहा है। चेतना के धरातल पर कोई अप्रिय नही है, कोई कष्ट नही है। यह अनुभूति पुष्ट होकर चित्त की चचलता पेदा करने वाली सभी बाधाओ को विलीन कर देती है और चित्त समाहित हो जाता है।

३३ **कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या॥**

३४ **कृष्ण-नील-कापोत-तेजः पद्म-शुक्लाः॥**

३३ कृष्ण, नील आदि पुद्गल द्रव्यो के निमित्त से जो आत्म-परिणाम होता है, उसे लेश्या कहा जाता है।

३४ लेश्या के छह प्रकार हैं ·

१. कृष्ण	४ तेजस्
२. नील	५. पद्म
३. कापोत	६ शुक्ल

लेश्या

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। उसके इन्द्रिय और सहायक मन भी पौद्गलिक है। उसकी सारी प्रवृत्तियो मे पुद्गल का वहुत वड़ा योग रहता है। पुद्गल के चार लक्षण है—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। इन चारो में पहला वर्ण—रग है। वर्ण के पाच प्रकार है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनके मिश्रण से अनेक रग उत्पन्न होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक रग के सात प्रकार मानते है—लाल, हरा, पीला, आसमानी, गहरा नीला, काला और हल्का नीला।

उनके अनुसार सफेद रग मौलिक नहीं है। वह सात रंगो के एकीकरण से वनता है।

रगों का प्राणी-जीवन के साथ वहुत गहरा सम्बन्ध है। ये हमारे शरीर तथा मानसिक विचारो को भी प्रभावित करते है। लेश्या के सिद्धात द्वारा इसी प्रभाव की व्याख्या की गई है।

वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा रंगो की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। देखिए यंत्र—

नाम	प्रकृति
लाल	गर्म
नारंगी	गर्म
लाल-नारगी	बहुत गर्म
पीला	गर्म किन्तु लाल-नारंगी से कम
हल्का गुलाबी	गर्म
गाढा गुलाबी	गर्म
बादामी	गर्म
हरा	न अधिक गर्म, न अधिक ठडा
नीला	ठंडा
गहरा नीला या आसमानी	ठंडा
शुभ्र (बनफशी)	न गर्म, न ठंडा

इनमें नारगी लाल रग के परिवार का रग है। बैगनी और जामुनी रग नीले रंग के परिवार के अंग है।

रंगों का शरीर पर प्रभाव

लाल · स्नायुमण्डल को स्फूर्ति देना।

नीला : स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष मे लाभ पहुंचाना और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।

पीला : मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगो को शान्त करने मे उपयोगी।

हरा : ज्ञान-तन्तुओ और स्नायुमण्डल को वल देना, वीर्य रोग के उपशनन मे उपयोगी।

गहरा नीला : गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय सम्वन्धी रोगो के उपशमन मे उपयोगी।

शुभ्र : नीद के लिए उपयोगी।

नारंगी . दमा तथा वात-व्याधियों के रोगो को मिटाने में उपयोगी।

बैंगनी : शरीर के तापमान को कम करने में उपयोगी।

रंगों का मन पर प्रभाव

काला रग मनुष्य मे असंयम, हिसा और क्रूरता का विचार उत्पन्न करता है।

नीला रंग मनुष्य मे ईर्ष्या, असहिष्णुता, रस-लोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रंग मनुष्य मे वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास उत्पन्न करता है।

अरुण रग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म-प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रंग मनुष्य में शान्ति, क्रोध-मान-माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय-विजय का भाव उत्पन्न करता है।

सफेद रंग मनुष्य मे गहरी शान्ति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारो के रगो के विषय में एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है, जिसका प्रथम वर्गीकरण के साथ पूर्ण सामजस्य नही है। यह इस प्रकार है :

विचार	**रंग**
भक्ति विषयक	आसमानी
कामोद्वेग विषयक	लाल
तर्क-वितर्क विपयक	पीला
प्रेम विषयक	गुलावी
स्वार्थ विषयक	हरा
क्रोध विपयक	लाल-काले रग का मिश्रण

इन दोनो वर्गीकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रग दो प्रकार का होता है .

१. प्रशस्त

२ अप्रशस्त

कृष्ण, नील और कापोत—अप्रशस्त कोटि के ये तीनों रग मनुष्य के विचारो पर बुरा प्रभाव डालते है तथा अरुण, पीला और सफेद—प्रशस्त कोटि के ये तीनो रंग मनुष्य के विचारो पर अच्छा प्रभाव

डालते है।

क्रोध से अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण लाल है। मोह से जल तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण सफेद या बैंगनी है। भय से पृथ्वी तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण पीला है। प्रशस्त लेश्याओ के जो वर्ण है, उनकी प्रधानता क्रोध आदि से होती है। इन दोनो निरूपणो में विरोधाभास है। इससे यह जानने के लिए अवकाश मिलता है कि लाल, पीला और सफेद वर्ण अच्छे विचारो को उत्पन्न नही करते, किन्तु प्रशस्त कोटि के लाल, पीला और सफ़ेद वर्ण ही अच्छे विचारों को उत्पन्न करते हैं। नमस्कार मत्र के जप के साथ जिन रंगो की कल्पना की जाती है, उनसे भी यही तथ्य प्रमाणित होता है। जैसे—

णमो अरहताण	श्वेत वर्ण
णमो सिद्धाणं	रक्त वर्ण
णमो आयरियाण	पीत वर्ण
णमो उवज्झायाणं	हरित वर्ण
णमो लोए सव्वसाहूणं	नील वर्ण

लेश्या के प्रसंग मे कृष्ण वर्ण को सर्वाधिक निकृप्ट माना गया है किन्तु मुनि के साथ कृष्ण वर्ण की योजना की गई है। इससे यही निप्कर्प निकलता है कि कृष्ण लेश्या (निकृप्टतम चित्त वृत्ति) को उत्पन्न करने का हेतु अप्रशस्त कृष्ण वर्ण वनता है। मुनि के साथ जिस कृष्ण वर्ण की योजना की गई है, वह प्रशस्त है।

साधक को वैचारिक पवित्रता, भावना-शुद्धि तथा वौद्धिक व आध्यात्मिक विकास के लिए रंगो का मानसिक अनुचिंतन करना चाहिए। मुख्यतया अनुचिंतनीय वर्ण ये है—अरुण, पीत और श्वेत।

मन की एकाग्रता के लिए आकाश मे दृप्टि टिकाना वहुत उपयोगी है। मुनि का ध्यान करते समय कृष्ण वर्ण का अनुचितन करना वहुत उपयोगी है। सामान्यतया कृष्ण दीनता का सूचक है। किन्तु उसकी एक विशेपता यह है कि वह वाहर से आने वाली रश्मियो को अपने मे केन्द्रित कर लेता है, इसलिए उसका अनुचितन करने वाला वाहरी प्रभावों से अपने आप को वचा लेता है।

मानसिक विकास और रंग

एकान्त मे वैठकर आखें मूंदकर दस मिनट तक मस्तिष्क में पीत वर्ण का ध्यान करने से ओज बढ़ता है और मस्तिष्क बलवान होता है। आखे मूंदकर पीले रंग की ज्योति का ध्यान करने से आलस्य दूर होता है और बुद्धि तीव्र होती है।

पांचवां प्रकरण

१. प्राणापान-समानोदान-व्यानाः पंच वायवः॥

२ नासाग्र-हृदय-नाभि-पादांगुष्ठान्तगोचरो नीलवर्णः प्राणः॥

३. पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिगः श्यामवर्णः अपानः॥

४. सर्वसन्धि-हृदय-नाभिगः श्वेतवर्णः समानः॥

५. हृदय-कण्ठ-तालु-शिरोन्तरगो रक्तवर्णः उदानः॥

६. सर्वत्वग्वृत्तिको मेघधनुस्तुल्यवर्णो व्यानः॥

१. प्रधानतः वायु के पांच प्रकार हैं :

१. प्राण

२. अपान

३. समान

४. उदान

५. व्यान

२. नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैरों के अंगूठे तक व्याप्त रहने वाला वायु प्राण कहलाता है। इसका वर्ण नील होता है।

३. पीठ, पीठ के अन्त्य भाग और पार्ष्णियों (एडियों) मे परिव्याप्त वायु अपान कहलाता है। इसका वर्ण श्याम होता है।

४. सारे सन्धि-भागों, हृदय तथा नाभि मे विचरने वाला वायु समान कहलाता है। इसका वर्ण श्वेत होता है।

५. हृदय, कण्ठ, तालु और सिर मे विचरने वाला वायु उदान कहलाता है। इसका वर्ण रक्त होता है।

६. त्वग्मात्र में विचरने वाला वायु व्यान कहलाता है। इसका वर्ण इन्द्रधनुषी होता है।

वायु

प्राण का अर्थ है—जीवनी-शक्ति। उसके दस प्रकार हैं :

१. स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	६. मनोबल प्राण
२ रसनेन्द्रिय प्राण	७. वचनबल प्राण
३. घ्राणेन्द्रिय प्राण	८. कायबल प्राण
४. चक्षुरिन्द्रिय प्राण	६. श्वासोच्छ्वास प्राण
५ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण	१० आयुष्य प्राण

इस शक्ति के द्वारा ही प्राणी जीवन को धारण करता है। इसके मूल मे चैतन्य और पुद्गल दोनो क्रियाशील रहते है। इस प्राणशक्ति को वायु के द्वारा गति मिलती है। इसलिए उसे (वायु को) स्थूल प्राण कहा जाता है।

शरीरगत वायु के मुख्य पांच प्रकार है :

१. प्राण
२ अपान
३. समान
४. उदान
५ व्यान

इनके स्थान, गति, कार्य, परिणाम व वर्ण इस प्रकार है—

प्राण—इसका स्थान मस्तक है, गतिस्थल छाती व कण्ठ है। इसके कार्य बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन को धारण करना तथा थूकना, छींक, डकार, नि श्वास और अन्नप्रवेश हैं। यह रुक्षता, व्यायाम, लघन, चोट, यात्रा तथा वेगनिरोध से विकृत होती है, जिसके परिणाम चक्षु आदि इन्द्रियों का विनाश, अर्दित, प्यास, कास, श्वास आदि रोगो की उत्पत्ति है। इसमें वायु तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण नील होता है।

अपान—इसका स्थान गुदास्थल है तथा कार्यक्षेत्र श्रोणि, वस्ति है। इसका कार्य वीर्य, रज, मल-मूत्र को बाहर निकालना है। विकृति, रुक्ष तथा भारी अन्न सेवन से, वेगों को रोकने या अति प्रवृत्ति करने से, अति बैठने, खडे होने या चलने से होती है। इसके परिणाम है—पक्वाशयगत कष्ट-साध्य रोगों, मूत्र एवं वीर्य के रोगो, अर्श, गुद-भ्रश आदि रोगों की उत्पत्ति। इसमे पार्थिव तत्त्व की प्रधानता होने के कारण डसका वर्ण श्याम

होता है। यहा श्याम का अर्थ काला नहीं किन्तु धूमिल या पीत-वहुल धूसर है।

समान—इसका स्थान पाचनाग्नि के पास है तथा गति क्रोध मे है। कार्य अन्न को ग्रहण कर पचाना, विरेचन करना, सार और किट्ट मे भेद कर किट्टभाग (मल-मूत्र) को नीचे सरकाना है। यह विषम भोजन, अजीर्ण भोजन, शीत भोजन व संकीर्ण भोजन तथा असमय मे सोने या जागने से विकृत होती है। इसके परिणाम शूल, गुल्म, सग्रहणी आदि पक्वाशय के रोगों की उत्पत्ति है। इससे जल तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण श्वेत होता है।

उदान—इसका स्थान छाती है तथा गति नासिका नाभि व गले में है। इसके कार्य वाणी की प्रवृत्ति, उत्साह, बल, वर्ण और स्मृति है। छीक, डकार, वमन व निद्रावेग रोकने व अति रुदन-हास्य, भारी बोझ उठाने आदि से यह विकृत होती है। इसके परिणाम है—कण्ठरोध, मनोभ्रंश, वमन, रुचि का नाश, पीनस, गलगण्ड आदि रोगो की उत्पत्ति। इसमे अग्नि तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण लाल है।

व्यान—इसका स्थान हृदय है तथा गति सर्वत्वचा मे है। गति, अंग को ऊपर-नीचे लाना, नेत्रादि को मूंदना-खोलना आदि इसके कार्य है। यह अति भ्रमण, चिंता, खेल, विषम चेष्टा, रुक्ष भोजन, भय, हर्ष एव शोक से विकृत होती है। इसके परिणामस्वरूप पुरुषत्व की हानि, उत्साह-हानि, वल-हानि, चित्त की बेचैनी, अगों मे जड़ता आदि रोग उत्पन्न होते है। इसमें आकाश तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण सतरंगी इन्द्रधनुप जैसा होता है।

वहुत दिनों से वन्द मकान को खोलते ही दूपित वायु निकलती हे। उससे कभी-कभी प्राणान्त तक हो जाता है। लोग भूत की कल्पना करते है पर वहां भूत का काम दूपित वायु ही करती है। सूर्यास्त के वाद वरगद आदि वडे वृक्ष दूपित प्राणवायु छोडते है। उनके नीचे सोने वाले कभी-कभी मर जाते हैं। लोग वहां भी भूत की कल्पना करते है पर वहां भी भूत वही दूपित वायु होती है। प्राणवायु की शुद्धि-अशुद्धि को जानने वाला वहुत सारी कठिनाइयो से वच जाता है। अपान वायु दूपित न हो, इसका ध्यान रखना वहुत आवश्यक है। अधिक खाने, मलशुद्धि न होने तथा

वेगो को रोकने से अपानवायु दूषित हो जाती है। मस्सा, नासूर आदि वीमारिया अपानवायु के दूषित होने से होती हैं। स्वभाव का चिडचिडापन और मानसिक अप्रसन्नता भी दूषित अपानवायु के कारण होती है। आहार-शुद्धि, मलशुद्धि, अश्विनी मुद्रा और मूलवन्ध करने से अपानवायु की शुद्धि होती है।

शरीर की अपानवायु को शुद्ध करने की क्रिया का नाम अपानायाम है।[1] ऐसी कुछ क्रियाए नीचे दी जाती है, जिन्हे विधिपूर्वक करके लाभ उठाया जा सकता है।

१. प्रथम, पेट को सामने की ओर जितना फुला सकें, फुलाए, फिर सिकोडे। नाभि को रीढ की हड्डी के साथ लगाने का प्रयत्न करे। इससे जहां अपान का अनुलोमन होता है, उसके साथ वीर्य-रक्षा भी होती है। अब दोनो हाथो को पेट पर रखें। अंगूठा पीछे रहे और अंगुलिया सामने की ओर हों। अब पेट को पूर्ववत् फुलाएं और बाये हाथ से दायी ओर दबाव डाले। दाये हाथ से पीछे की ओर दबाव डाले। अब पेट को पीछे से बाये-दाए 'फुलाएं। इसी प्रकार कई दिनो तक अभ्यास करने से पेट स्वय वायी से दायी ओर होकर, फिर पीछे होकर वायी ओर आ जाएगा। इसी प्रकार दायी ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करे। तत्पश्चात् पेट को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर गतिया देनी चाहिए। इससे पेट की सफाई हो जाती है और अपानवायु वश मे हो जाता है।

२ खडे होकर श्वास को बिलकुल वाहर फेककर काख के दोनो पार्श्वो को भीतर खीचने का खूव यत्न करे। मध्यप्रदेश नाभिस्थल ऊपर रहे। इसका अभ्यास करने के लिए सामने कोई मेज हो या अन्य वस्तु जिसे खूव अच्छी तरह पकडा और उठाया जा सके। अव हाथो के वल सीधा ऊपर उठा जाए और वही क्रिया की जाए। नल स्वयं वाहर निकलेगा। अव विना मेज के दोनों हाथो को घुटनो पर रखकर श्वास वाहर फेककर कुक्षि-प्रदेश अन्दर खींचें। जब नल निकलने लग जाए तव श्वास चाहे अन्दर हो या वाहर, श्वास को वाहर रोककर नल निकाला जा सकता है और उसे आगे-पीछे खूव अच्छी तरह हिलाया जा सकता

---

१ धन्वन्तरि—प्राकृतिक चिकित्सा विशेपाक, वर्प-४०, अक-२, पृ. १३७

है। इस क्रिया से अपानवायु वश में होती है व पेट की बहुत-सी बीमारिया दूर हो जाती है।

३. आपने बहुत बार कुत्ते या बिल्ली को अगड़ाई लेते देखा होगा। ठीक इसी प्रकार की स्थिति मे हो जाइए। हाथो को सीधा आगे पसारिए। जमीन पर ठोड़ी या गाल लगे और घुटने अलग करके रखे। कमर को जितना हो सके झुकाएं। अब अपान को बाहर करने का प्रयत्न करें। उसके बाद स्वयं ही अपान अन्दर आने की कोशिश करेगा। इससे अफारा, सिरदर्द दूर होते हैं। अपानायाम मे सिर्फ पूरक व रेचक ही करना चाहिए, कुम्भक नही। पेट को बिल्कुल ढीला छोड देने से वायु बाहर हो जाता है।

प्राण, अपान आदि की विधिवत् साधना करने वाला बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की उपलब्धियो से सम्पन्न होता है। सोमदेव सूरि के अनुसार जो व्यक्ति पवन के प्रयोग मे निपुण होता है, वह सिद्ध और सर्वज्ञ जैसा हो जाता है—

पवनप्रयोगनिपुणः सम्यक् सिद्धो भवेदशेषज्ञः।

७. **नासादिषु स्वस्वस्थानेषु रेचक-पूरक-कुम्भकैस्तज्जयः॥**

८. **यैं पैं वैं रौं लौं तद्ध्यानबीजानि॥**

७. पांचों वायुओं के जो अपने-अपने विचरण-स्थान है, वहा सकल्पपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक करने से इन पर विजय प्राप्त होती है।

८. पाचों वायुओं के ध्यान-बीज इस प्रकार है

१. प्राण—यै

२. अपान—पै

३. समान—वै

४. उदान—रौं

५. व्यान—लौं

वायु-जय की प्रक्रिया

पूर्ववर्ती सूत्रों में वायु के स्थानो का निर्देश किया गया हे। जिस वायु को अपने वश मे करने की अपेक्षा होती है, उस पर मन को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। प्राणवायु का मुख्य स्थान नासाग्र है। उसे

अपने वश में करने के लिए नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। नासाग्र के द्वारा प्राण का आगम और निर्गम होता है। वहा मन को उसी प्रकार नियोजित करना चाहिए जिस प्रकार एक प्रहरी द्वार से जाने-आने वाले लोगों पर ध्यान केन्द्रित किये खड़ा रहता है। लम्बे समय तक प्राणवायु के आगम और निर्गम पर ध्यान केन्द्रित करने से वह साधक के अधीन हो जाती है। फिर साधक उसे शरीर के जिस भाग मे ले जाना चाहता है, या स्थापित करना चाहता है, मन की गति के साथ वह वही चली जाती है या स्थापित होती है। इस प्रकार अन्य वायुओं पर भी ध्यान को केन्द्रित कर उन्हें अपने अधीन किया जा सकता है। प्रत्येक वायु स्वाभाविक ढंग से अपना-अपना काम करती है किन्तु ध्यान के द्वारा उनमे विशेषता लायी जा सकती है और उनकी शक्ति का संवर्धन किया जा सकता है। इस कार्य के सम्पादन मे प्राणायाम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेचक के द्वारा उनके दूषित तत्त्वो को बाहर फेंक दिया जाता है। पूरक के द्वारा उनकी शक्ति को पुष्ट किया जाता है और कुम्भक के द्वारा उनकी कार्य-क्षमता को जागृत किया जाता है। साधक संकल्पपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक कर वायु को अपने अधीन बना लेता है और फिर वह उनके द्वारा इष्ट कार्य का सम्पादन करता है। वायु पर ध्यान केन्द्रित करते समय उसके ध्यान-बीजो का भी आलम्बन लेना चाहिए।

९. जठराग्निप्राबल्यं वायुजयः शरीरलाघवञ्च प्राणस्य लब्धयः॥

१०. व्रणसंरोहण-अस्थिसन्धान-अग्निप्राबल्य-मलमूत्राल्पता व्याधिजयः अपान-समानयोः॥

११. पंक-कण्टकबाधाऽभाव उदानस्य॥

१२. ताप पीड़ाऽभावः आरोगित्वञ्च व्यानस्य॥

१३ चन्द्रनाड्या वायुमाकृष्य पादाङ्गुष्ठान्तं तन्नयनं क्रमशः पुनरुन्नयनं पुनर्नयनञ्च मनःस्थैर्याय।

१४. पादाङ्गुष्ठतो लिङ्गपर्यन्तं वायुधारणेन शीघ्रगतिर्बलप्राप्तिश्च॥

१५. नाभौ तद्धारणेन ज्वरादिनाशः॥

१६ जठरे तद्धारणेन कायशुद्धिः॥

१७. हृदये तद्धारणेन ज्ञानोपलब्धिः॥

१८. कूर्मनाड्यां तद्धारणेन रोगजराविनाशः॥

१६. कण्ठकूपस्य निम्नभागे स्थिता कुण्डलिसर्पाकारा नाडी कूर्मनाडी॥

२०. कण्ठकूपे तद्धारणेन क्षुत्तृषाजयः॥

२१. जिह्वाग्रे तद्धारणेन रसज्ञानम्॥

२२. नासाग्रे तद्धारणेन गन्धज्ञानम् ॥

२३. चक्षुषोस्तद्धारणेन रूपज्ञानम्॥

२४. कपाले तद्धारणेन क्रोधोपशमः॥

२५. ब्रह्मरन्ध्रे तद्धारणेन अदृश्यदर्शनम्॥

६. प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है। वायु जीत लिया जाता है और शरीर मे हल्कापन आ जाता है।

१०. अपान और समान वायु को जीतने से ये फल प्राप्त होते है–

  १. व्रणसंरोहण—घाव मिटाना।
  २. अस्थि-संधान—हड्डी जुड जाना।
  ३. जठराग्नि की प्रबलता।
  ४. मल और मूत्र की अल्पता।
  ५. व्याधि पर विजय।

११. उदान वायु पर विजय प्राप्त करने पर कीचड, काटें आदि वाधक नही बनते। लघुता प्राप्त होने से फसना, चुभना आदि नही होते।

१२. ताप और पीड़ा का अभाव तथा नीरोगता—ये व्यान वायु की विजय के कार्य या फल हैं।

१३. वायें स्वर को चन्द्रनाडी तथा दाये स्वर को सूर्यनाड़ी कहा जाता है। चन्द्रनाड़ी के पवन का आकर्षण कर उसे पैरो के अगूठे तक ले जाना, क्रमशः उसें फिर ऊपर लाना, फिर नीचे ले जाना—इस प्रकार ऊपर-नीचे लाने ले जाने से मन की स्थिरता प्राप्त होती है।

१४. पादांगुष्ठ से लिंग पर्यन्त वायु को धारण करने से शीघ्र गति और वल की प्राप्ति होती है।

१५. नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर आदि रोग नप्ट होते है।

१६. जठर मे वायु को धारण करने से शरीर की शुद्धि होती है, मल

क्षीण हो जाते हैं।

१७ हृदय मे वायु को धारण करने से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

१८ कूर्मनाडी मे वायु को धारण करने से रोग और वुढापा नष्ट होता है।

१६. कण्ठकूप के निचले भाग में कुण्डली-मुद्रा मे बैठे हुए सर्प के आकार की जो नाड़ी है, उसे कूर्मनाडी कहा जाता है।

२०. कण्ठकूप मे वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है।

२१. जिह्वाग्र मे वायु को धारण करने से रस का ज्ञान प्राप्त होता है।

२२. नासाग्र मे वायु को धारण करने से गंध का ज्ञान प्राप्त होता है।

२३. चक्षुओ मे वायु को धारण करने से रूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

२४. कपाल मे वायु को धारण करने से क्रोध् उपशान्त होता है।

२५ ब्रह्मरन्ध्र मे वायु को धारण करने से चर्म चक्षुओं द्वारा अदृश्य वस्तुएं दीखने लग जाती हैं।

वायु-विजय के लाभ

महर्षि पतजलि ने उदान और समान दोनों के विजय के लाभ बतलाए है। उनके योगदर्शन मे शेष वायुओं के विजय के लाभ की कोई चर्चा नही है। उनके अनुसार संयम के द्वारा उदान वायु के जय से शरीर हल्का हो जाता है। फिर वह पानी में नही डूबता। उसके पैर कीचड मे नही फसते। काटो मे भी नहीं उलझते। मरण के समय उसकी ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राणो के निकलने से ऊर्ध्वगति होती है—

उदानजयाज्जलपककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च॥

(पातंजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ३६)

सयम के द्वारा समान वायु का विजय कर लेने पर साधक का शरीर दीप्तिमान हो जाता है—

समानजयाज्ज्वलनम्॥

(पातंजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ४०)

उत्तरवर्ती योगग्रंथों में अन्य वायुओ के जय से होने वाले लाभो का वर्णन मिलता है। नौवे से बारहवे सूत्र तक उनका निरूपण किया गया है। तेरहवें सूत्र मे प्राणायाम की एक विशेष प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा याज्ञवल्क्य गीता मे इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

उक्त प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—साधक पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठे। फिर वह रेचक प्राणायाम करे। उसके बाद बाये नथुने से पूरक प्राणायाम करे और प्राण को पैरो के अंगूठे तक ले जाए। वहा संकल्पपूर्वक कुम्भक करे। फिर प्राणवायु को क्रमशः पैरों के तलुवे, एड़ी, टखने, जंघा, घुटने, ऊरु, गुदा, लिंग, नाभि, उदर, हृदय, कण्ठ, जीभ, तालु, नासाग्र, नेत्र, भौंह, ललाट और सिर तक ले जाए। वहां से उसे ब्रह्मरन्ध्र मे ले जाए। फिर उल्टे क्रम से प्राणवायु को पैरों के अगूठे तक ले जाए। फिर पैरो के अंगूठे से उसे नाभि तक लाकर उसका विरेचन कर दे। इस प्रक्रिया के मध्य वायु को धारण करने से होने वाले लाभ चौदहवे से पचीसवें सूत्र तक बतलाए गए हैं।

२६. **आस्थाबन्धो दीर्घकालासेवनं नैरन्तर्य कर्मविलयश्चात्र हेतुः॥**

२७. **मनोनुशासनाद् अतीन्द्रियोपलब्धिः॥**

२६ दृढ़ आस्थायुक्त, प्रतिदिन, लम्बे समय तक उक्त स्थानों मे संकल्पपूर्वक कुम्भक करने तथा कर्म-पुद्गलों का विलय होने से ही ये शक्तियां प्राप्त होती हैं।

२७. मन के अनुशासित होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनोनुशासन का अन्तिम फल अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि या स्वभाव की उपलब्धि है।

सिद्धि की प्रक्रिया

योग-साधना से होने वाली उपलब्धियो का वर्णन मनुष्य के सामान्य ज्ञान से परे की वस्तु है। साधारणतया जीवन मे ऐसा घटित नहीं होता किन्तु मन की एकाग्रता के द्वारा कुछ ऐसा घटित होता है, जिसकी मानसिक चंचलता की स्थिति मे कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारे शरीर के भीतर कुछ ऐसे शक्ति-स्रोत विद्यमान है जिनका चैतसिक चंचलता की

स्थिति मे कोई उपयोग नही होता। एकाग्रता की स्थिति में वे स्रोत उद्‌घाटित हो जाते हैं और वे शरीर में विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया उत्पन्न करते है। उनके द्वारा असंभव प्रतीत होने वाले परिवर्तन सहज ही घटित हो जाते है, किन्तु यह कुछ ही दिनो में घटित नही होता। इसकी सिद्धि के चार उपाय है–

१. आस्था बन्ध

२. दीर्घकालिक अभ्यास

३. निरन्तर अभ्यास

४ कर्मविलय

साधना मे दृढ़ आस्था हुए बिना सफलता सभव नही होती। उसके होने पर भी यदि अभ्यास दीर्घकाल तक न चले तो सफलता संभव नही है। दीर्घकालिक अभ्यास होने पर भी यदि वह निरन्तर न चले, उस स्थिति मे साधक सफल नही हो सकता। इन सबके होने पर भी बन्धन-विलय से प्राप्त योग्यता अपेक्षित रहती है। इन सबका समुचित योग होने पर जो असभव प्रतीत होता है, वह संभव बन जाता है।

उक्त उपलब्धियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि। स्थूल मन की एकाग्रता होने पर वह भी घटित हो जाती है।

छठा प्रकरण

१. सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम्॥
२. सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा॥
३. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादित्वञ्च सत्यम्॥
४. परोपरोधाकरणमस्तेयम्॥
५. वस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम् ॥
६ बाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रहः॥
७. आलोके भोजनं पानञ्च॥
८. भूमिं प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत्॥
९. प्रतिलेखनप्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात्॥
१० क्रोध-लोभ-भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य आचक्षीत॥
११. अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत्॥
१२ ब्रह्मचर्यघातिसंसर्गेन्द्रियप्रयोगं विवर्जयेत्॥
१३ प्रियाप्रिययोर्न रज्येद् न द्विष्याद् न च देहमध्यासीत्॥
१४ स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम्॥
१५. क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिंचन्य- ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्मः॥
१६. क्रोधनिग्रहः क्षमा॥
१७. हीनानामपरिभवनं मार्दवम्॥
१८. माया-निरोध आर्जवम्॥
१९. शौचमलुब्धता॥
२०. सत्यम्[1]॥
२१. हिंसादिप्रवृत्तेरुपरमणं संयमः॥

---

१ देखें ६/३

२२ कर्म-निर्जरणहेतु पौरुषं तपः॥

२३ संविभागकरणं त्यागः॥

२४ स्वदेहे निःसंगता आकिंचन्यम्॥

२५. ब्रह्मचर्यम्[1]॥

१. हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनका सर्वथा त्यागने का नाम महाव्रत है। सर्वथा त्यागने का अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मणा हिसा आदि स्वयं न करना, दूसरो से न कराना और करते हुए का अनुमोदन न करना।

२. प्राणी मात्र के प्रति संयम—अपनी असत्-प्रवृत्तियो की रुकावट रखना, उन्हें कष्ट न पहुचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना अहिसा है।

३ शरीर, वाणी और मन की ऋजुता तथा अविसंवादित्व (कथनी और करनी की एकरूपता) को सत्य कहा जाता है।

४ दूसरो के स्व का हरण न करने को अस्तेय कहा जाता है।

५. जननेन्द्रिय, इन्द्रिय-समूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

६ वाह्य (आत्मा से अतिरिक्त वस्तुओं) मे मन का सम्वन्ध न करने को अपरिग्रह कहा जाता है।

७. योग-अभ्यासी को भोजन-पान आलोक मे (सूर्य के रहते हुए ही) करना चाहिए।

८ उसे भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

९. स्थान को देख, उसे साफ कर उपकरणों को उठाना और रखना चाहिए।

१० उसे क्रोध, लोभ, भय और हास्य-कुतूहल का वर्जन करना चाहिए और सोच-समझकर बोलना चाहिए।

११. रहने के स्थान की उसके स्वामी की अनुज्ञा ले, उसका सम्यक् पालन करना चाहिए।

१२. ब्रह्मचर्य का घात करने वाले संसर्ग का वर्जन करना चाहिए। वासना को उभारने वाले व्यक्तियो के साथ नहीं रहना

---

१ देखें ६/५

चाहिए। वैसे स्थान और आसन का भी वर्जन करना चाहिए। चक्षु, स्पर्शन, जीभ और श्रोत्र का उच्छृंखल प्रयोग नही करना चाहिए।

१३. इन्द्रियों के प्रिय विषयों मे आसक्ति और अप्रिय विषयो मे द्वेष नहीं करना चाहिए। उसे देहाध्यास का त्याग करना चाहिए।

१४. स्थूल हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनकी विरति को अणुव्रत कहा जाता है।

१५. श्रमण-धर्म दस प्रकार का है :

१. क्षमा	६. संयम
२. मार्दव	७. तप
३. आर्जव	८. त्याग
४. शौच	६. आकिंचन्य
५. सत्य	१०. ब्रह्मचर्य

१६. क्रोध के निग्रह को क्षमा कहा जाता है। जो आक्रोश और ताड़ना को सहन करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते हैं। जो सहन नहीं करता, उसके कर्म-सस्कार सचित होते हैं, इसलिए आने वाले क्रोध का निग्रह करो और जो क्रोध आ गया, उसे विफल करो।

१७. जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदि में जो हीन हों, उनका तिरस्कार न करना मार्दव है। मै उत्तम जातीय हू और यह नीच जातीय है—इस प्रकार मद नही करना चाहिए। जो मद नहीं करता, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो मद करता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते है, इसलिए आने वाले मान का निग्रह करो और जो मान आ गया, उसे विफल करो।

१८. माया के निरोध को आर्जव कहा जाता है। जो ऋजु होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते हैं। जो कुटिल होता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते है, इसलिए होने वाली माया का निग्रह करो और जो माया हो गई, उसे विफल करो।

१६. अलुब्धता को शौच कहा जाता है। जो लुब्धभाव नहीं

रखता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते हैं। जो लुब्धभाव रखता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है। इसलिए आने वाले लोभ का निरोध करो और जो लोभ आ गया, उसे विफल करो।

२० जो सत्य बोलता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो असत्य बोलता है, उसके कर्म-संस्कार सचित होते हैं।

२१. हिंसा आदि अकरणीय कार्य से विरत होना सयम है। जो सयम करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो असयम करता है, उसके कर्म-सस्कार संचित होते हैं।

२२. सचित कर्मो का शोधन करने वाले पराक्रम को तप कहा जाता है। जो तप करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है, इसलिए तप का अभ्यास करो।

२३ सयमी को वस्त्र, पात्र, औषध आदि का संविभाग देने को त्याग कहा जाता है। जो सविभाग करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है, इसलिए संविभाग करो।

२४. अपने शरीर के प्रति जो नि:सगता होती है, निर्ममत्व होता है, उसे आकिचन्य कहा जाता है। जो नि:सग होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते हैं। जो आसक्त होता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए आकिचन्य का अभ्यास करो।

२५ जो ब्रह्मचर्य का भली-भाति आचरण करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो उसका सम्यग् आचरण नही करता, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

महाव्रत

महर्षि पतजलि ने अष्टाग योग का प्रतिपादन किया है। उसमे पहला अग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतो को मूल गुण और शेष साधना के अंगो को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतो के होने पर अन्य साधना के अग विकसित हो सकते है। इनके न होने

चाहिए। वैसे स्थान और आसन का भी वर्जन करना चाहिए। चक्षु, स्पर्शन, जीभ और श्रोत्र का उच्छृंखल प्रयोग नही करना चाहिए।

१३. इन्द्रियों के प्रिय विषयों में आसक्ति और अप्रिय विपयो मे द्वेष नहीं करना चाहिए। उसे देहाध्यास का त्याग करना चाहिए।

१४. स्थूल हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनकी विरति को अणुव्रत कहा जाता है।

१५. श्रमण-धर्म दस प्रकार का है :

१. क्षमा	६. संयम
२. मार्दव	७. तप
३. आर्जव	८. त्याग
४. शौच	९. आकिंचन्य
५. सत्य	१०. ब्रह्मचर्य

१६. क्रोध के निग्रह को क्षमा कहा जाता है। जो आक्रोश और ताड़ना को सहन करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो सहन नहीं करता, उसके कर्म-संस्कार सचित होते है, इसलिए आने वाले क्रोध का निग्रह करो और जो क्रोध आ गया, उसे विफल करो।

१७. जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदि में जो हीन हों, उनका तिरस्कार न करना मार्दव है। मैं उत्तम जातीय हूं और यह नीच जातीय है—इस प्रकार मद नही करना चाहिए। जो मद नही करता, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो मद करता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते है, इसलिए आने वाले मान का निग्रह करो और जो मान आ गया, उसे विफल करो।

१८. माया के निरोध को आर्जव कहा जाता है। जो ऋजु होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो कुटिल होता है, उसके कर्म-सस्कार संचित होते है, इसलिए होने वाली माया का निग्रह करो और जो माया हो गई, उसे विफल करो।

१९. अलुब्धता को शौच कहा जाता है। जो लुब्धभाव नही

रखता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है। जो लुब्धभाव रखता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है। इसलिए आने वाले लोभ का निरोध करो और जो लोभ आ गया, उसे विफल करो।

२० जो सत्य बोलता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो असत्य बोलता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते हैं।

२१ हिसा आदि अकरणीय कार्य से विरत होना सयम है। जो सयम करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो असंयम करता है, उसके कर्म-सस्कार संचित होते है।

२२ सचित कर्मो का शोधन करने वाले पराक्रम को तप कहा जाता है। जो तप करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं, इसलिए तप का अभ्यास करो।

२३. सयमी को वस्त्र, पात्र, औषध आदि का सविभाग देने को त्याग कहा जाता है। जो संविभाग करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते है, इसलिए सविभाग करो।

२४. अपने शरीर के प्रति जो निःसगता होती है, निर्ममत्व होता है, उसे आकिंचन्य कहा जाता है। जो निःसग होता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते है। जो आसक्त होता है, उसके कर्म-सस्कार सचित होते है, इसलिए आकिचन्य का अभ्यास करो।

२५. जो ब्रह्मचर्य का भली-भांति आचरण करता है, उसके कर्म-सस्कार क्षीण होते हैं। जो उसका सम्यग् आचरण नही करता, उसके कर्म-संस्कार सचित होते है, इसलिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

महाव्रत

महर्पि पतजलि न अष्टाग योग का प्रतिपादन किया है। उसमे पहला ग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अग महाव्रत है। महाव्रतो को ल गुण और शेप साधना के अगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतो हांने पर अन्च साधना के अंग विकसित हो सकते है। इनके न होने

पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसलिए महाव्रत मूल गुण है। सुदृढ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नही की जा सकती। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए विना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग मे महाव्रतो का प्राथमिक स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार है .

१. अहिसा

२. सत्य

३. अस्तेय

४. ब्रह्मचर्य

५. अपरिग्रह।

इनमें मुख्य स्थान अहिसा का है। शेष सब उसी का विस्तार है। अहिसा के दो रूप होते है :

१ संकल्पकृत अहिंसा

२. सिद्ध अहिंसा।

साधना के आरम्भ में साधक अहिसा का सकल्प स्वीकार करता है। इसमे मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नही होती, इसलिए वार-वार उतार-चढ़ाव आता रहता है। हिंसा के संस्कार पुन -पुन उद्दीप्त होते रहते है। किन्तु अहिसा का संकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर वढता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आन्तरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते कपाय क्षीण होता है, तव अहिसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति मे साधक के मन मे समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन मे फिर शत्रु और मित्र का भेद नहीं रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नहीं रहता। हीन और उत्कर्प की भावना समाप्त हो जाती है। निन्दा से ग्लानि और प्रशसा से उत्फुल्लता नही होती। मान और अपमान से उसका मानसिक सतुलन नही विगडता। उसमें सहज संयम विकसित होता है और उसमे सव जीवों को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिसा के साथ-साथ व्यक्ति मे ऋजुता प्रकट होती है, यही उसका

सत्य पक्ष है।

अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरो के स्वत्व का अपहरण नही करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह वाह्य वस्तुओ में आसक्त नही होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है। ब्रह्मचर्य दो भागो में विभक्त है :

१. सकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य

२ सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रो मे 'घोरवभयारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न मे भी स्खलित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न मे भी अणुमात्र विचलित नही होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ सकल्पो और साधनो के द्वारा इस भूमिका तक पहुचा जा. सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का सम्बन्ध मुख्यत. मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओ से सम्वन्धित है। अत उसकी पालना के लिए शरीर-शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने मे भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण है .

१. मोह

२ शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसके शरीर मे प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओ मे परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका मे वीर्य वनता है। उसके वाद वह ओज के रूप मे शरीर मे व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नही है। वह सव

धातुओ का सार है। शरीर में अनेक नाड़िया है। उनमे एक काम-वाहिनी नाडी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेंकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते है, उन आसनो से इसी नाडी पर नियंत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य वनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय मे भी जाता है। वीर्याशय मे अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नहीं छोड सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी बनता है। वह अण्डकोश मे जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियो ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियत्रण पाने का कोई उपाय ढूंढा जाए ? उन्होने स्पष्ट अनुभव किया--वीर्य केवल वीर्याशय मे जाएगा तो पीछे से चाप पडने से आगे का वीर्य वाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वो को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होने वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गान्तरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय में कम जाए और ऊपर सहस्रार-चक्र मे अधिक जाए। इस प्रक्रिया मे वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व मे ले जाने से वे ऊर्ध्वरेता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनो वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नही पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है मल-शुद्धि। मल के अवरोध से वायु वनता है। वायु जितना अधिक वनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक वचो। वीर्य को जव अधिक चाप होता है, तव ब्रह्मचर्य के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया है—'बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।'

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ एक साधनों की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमें पहला साधन वीर्य-स्तम्भ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम उर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन में बैठकर पूर्णरूप से रेचन करें। रेचनकाल में चिन्तन करें, मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है। फिर पूरक करें—जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध करें। पूरककाल में पेट को सिकोड़ें और फुलाए। सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरकों में सौ बार दोहराएं।

दूसरा ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुम्भक है। चौथा प्रतिसलीनता है।

इन्द्रिया चंचल होती है, पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। मन से प्रेरित होकर ही वे चचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शान्त होता है, तब वे अपने आप स्थिर और शान्त हो जाती हैं। मन अन्तर्मुखी बनता है, तब इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती है। महर्षि पतजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार·।

—पातंजल योगदर्शन—साधनपाद, ५४

अपने विषयो के असम्प्रयोग मे चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमो में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र मे इन्द्रिय प्रतिसलीनता के पांच प्रकार बतलाये गए हैं।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग है—विपय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष निग्रह। आखो से न देखें, यह विषय-प्रचार का निरोध है। वि
के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए, वहां राग-द्वेष न करना, राग-द्वेष

है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—अपने आप में लीन होना। इन्द्रिया सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही भीतर से सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुम्भक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दायें नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अन्तःकुम्भक करें। फिर बायें नथुने से श्वास को बाहर निकाल दें। कुछ देर बाह्यकुम्भक करें। इस प्रकार एक बार कुम्भक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुम्भक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय संकल्प करें कि वीर्य नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है। संकल्प में ऐसी दृढता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढता दिखाई देने लगे। चाप में भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर संकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नही पड़ेगा। फलतः उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय मे यौन-शास्त्रियों के अभिमत भी मननीय है।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अण्ड और डिम्ब ग्रन्थियो के अन्तःस्राव जव रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगो मे प्रवाहित होते है तो वे युवक और युवती के सर्वागीण विकास में जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोड़ते हैं।

हेलेनाराइट ने इसके लिए वड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्मविकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन मे कई वार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय मे केन्द्रिय प्राणशक्ति सारे स्नायुमण्डल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है। थोडे समय मे ही डस मानसिक सूचना से तन और मन नये चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेगे।

इन साधनो के अतिरिक्त शास्त्रो का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग

आदि साधन भी मन को एकाग्र करने मे सहायक होते है। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिंतन ही प्रर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-सम्बन्धी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि उसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चितन अकेला पड जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीर-शास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियां होती है :

१ श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी)
२. कण्ठमणि (थाइरायड)
३. वृषण
४. सर्वकिण्वी (पैनक्रिया)
५. एड्रीनल या सुप्रारीनल
६. पैराथाइरायड
७. तृतीय नेत्र (पीनियलबॉडी)
८. यौवनलुप्त (थाइमस)

पीयूष ग्रन्थि

यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोशों के स्रावों को नियंत्रित करती है। डस ग्रन्थि के रसो का कार्य इस प्रकार है :

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास।
द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल या नमक का सन्तुलन।
तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियत्रण।
पीयूप ग्रन्थि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि

यह गर्दन मे श्वास नली से जुड़ी हुई होती है। इसका आकार

तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ जाती है किन्तु अन्य अंग साथ नही देते, इसलिए वह कमी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रन्थि से रस कम निकले तो वुढापा आ जाता है, सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रन्थि

यह पुरुष के ही होती है। यह अण्डकोशो में होती है। इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूछे आती है।

पैनक्रिया ग्रन्थि

यह दो आतो के बीच मे होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि

ये दोनो ग्रन्थियां गुर्दे के ऊपरी हिस्से मे होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मासपेशियों मे ले जाते है। वह मांसपेशियो को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रन्थि

कण्ठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रन्थियां होती है। इन्हे पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त में कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन वनाए रखती है।

तृतीय नेत्र ग्रन्थि

यह मस्तिष्क मे होती है।

यौवनलुप्त ग्रन्थि

यह सीने मे होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध वृषण ग्रन्थियों से है। वृपण ग्रन्थिया दो स्राव उत्पन्न करती है—बहिःस्राव और अन्तःस्राव। धमनियो द्वारा वृषण-ग्रन्थियों मे रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनो स्रावो के उत्पादक अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते है।

वीर्य अण्डकोश मे उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं है—एक वीर्याशय, जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य मे है—मे जाती है। दूसरी रक्त मे मिलकर शरीर मे दीप्ति, मस्तिष्क मे शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त मे अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के स्वास्थ्य के लिए वहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा मे इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नही पाता। फलत· दोनो प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान है ·

१ मूर्धा	६. वस्ति
२. कण्ठ	७ ओज
३ हृदय	८ शुक्र
४. नाभि	९ शोणित
५. गुदा	१०. मांस।

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते है ·

१ २. दो शख—पटपड़ियां
३ ५. तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर

६. कण्ठ	८. शुक्र
७ रक्त	९ ओज

१०. गुदा।

ओज इन दोनो प्रकारो मे है। वह (वीर्य) धातु का अन्तिम सार नहीं, किन्तु सातो धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अंतिम

---

१ सुश्रुत, ११/३७
ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्ताना परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिवन्धनम्॥

सार है।[1] उसका केन्द्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।

इससे दो बातें निसपन्न होती हैं :

१. ओज का सम्बन्ध केवल वीर्य से नहीं है।

२. वीर्य का स्थान अण्डकोष है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अन्तर यह है कि वीर्य का मध्यम परिणाम ही लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा मे हो तो क्षीणता आदि दोष बढते है। वह अति मात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रवल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[1]

ओज जितना बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[2]

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं :

१. जननेन्द्रिय

२. मस्तिष्क।

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते है। अत उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकार प्रभाव नही होता। मन मे मोह ओर संस्कारों मे अशुद्धि उत्पन्न होती है। इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृपण ग्रन्थियों मे आने वाले रस-रक्त का उपयोग वहि:स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते है। इसका फल यह होता है कि अन्तःस्राव उत्पन्न करने वाली

---

१. सुश्रुत, ११/१२ . अतिस्त्रीकामता वृद्ध, शुक्र, शक्राश्मरीमपि।

२. वही, ११/१२ · ओजे वृद्धो हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिवलोदय ।

अवयव उचित सामग्री के अभाव मे अपना काम करने मे अक्षम रह जाते है। फलत. सर्व धातुओ और सर्वांग पर होने वाले अन्तःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावो से वचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर मे उत्पन्न होते है।

आयुर्वेद के ग्रथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियो मे सातवी क्यारी मे वडा गर्त हो या उसमे से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल उस गड्ढे मे भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने मे व्यय होगा। यही स्थिति अति-मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्रक्षय मे होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्र-धातु की पुष्टि मे लगता है किन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नही पाता। परिणामतया अन्य वस्तुओं की पुष्टि रस से हो नही पाती और शरीर मे विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते है।

ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय-विजय और इन्द्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुत इन्द्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नही है। ब्रह्मचर्य की इन्द्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते है।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नही होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते है।

कुछ लोगो का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नही होता। इस मत में सचाई का अंश भी है पर उसी स्थिति मे जव ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति मे हो। चिन्तन के प्रवाह को काम-वासना की लहरो से मोडकर अन्य उदात्त भावनाओ की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति मे विकास पाता है। उसका शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियो पर वडा लाभदायी प्रभाव पडता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते है, फिर भी नही कर पाते। ऐसा क्यो होता है ? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यो उभर आती है ? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा मे यह है कि यह मव

मोह के कारण होता है। पर शरीरशास्त्र की भाषा मे कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार कामवाहिनी नाडियो मे रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नही होता तो वह भावना नही उभरती। संचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और संचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस सदर्भ में हम उस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया ?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नही है। प्रथम है—ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ श्रद्धा होना। दूसरा है—वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोडने की साधना। इसमे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियत्रण शक्ति से नही।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारम्भ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ-सकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शान्त हो जाए।

पेट मे मल, मूत्र और वायु का दवाव बढने से काम-वाहिनी नाडियां उत्तेजित होती है। खान-पान और मल-शुद्धि में सजग रहना ब्रह्मचर्य की वहुत वडी शर्त है। वायु विकार न वढे इस ओर ध्यान देना भी वहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवो के स्पर्श से भी वासना वढ सकती है। इन सारी वातो का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में वहुत महत्त्व है, पर इन सवसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोडने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधिया इस प्रकार है :

ऊर्ध्वाकर्पण

(क) सिद्धासन मे वैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—वाहर निकालिए। वाह्य कुम्भक कीजिए—श्वास को वाहर रोके हुए रहिए। इस स्थिति में सकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर मे घूम रहा है। उसका प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सके, यह संकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अन्दर भरिए। पूरक की स्थिति मे मूलवन्ध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खीचिए तथा जालन्धरबन्ध कीजिए—ठुड्डी को तानकर कण्ठकूप मे लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी वार ऐसा कर सके, कीजिए, फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। इसे अभ्यास बढाते-बढाते सात या नौ बार दोहराइए।

(ख) पीठ के वल चित लेट जाइए। सिर, गर्दन और छाती को सीध मे रखिए। शरीर को विलकुल शिथिल कीजिए। मुह को बन्द कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह सकल्प कीजिए कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय से मुडकर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। कामवाहिनी (जननेन्द्रिय के आस-पास की) नाडियां हल्की हो रही है और मस्तिष्क की नाडियां भारी हो रही है।

पूरक के वाद अन्त.कुम्भक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अन्दर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुम्भक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया बढ़ाते-वढ़ाते पन्द्रह-वीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के उर्ध्वारोहण का सकल्प जितना दृढ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे काम-वाहिनी स्नायुओं पर दबाव पडता है। उससे मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है। काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। कहा भी है·

मन स्थैर्यात् स्थिरो वायुस्ततो विन्दु.स्थिरो भवेत्।
विन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिण्डस्थैर्य च जायते

ऊर्ध्वाकर्पण की प्रक्रिया केवल पुरुपो के लिए है।

संकल्प शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है।

२६. **शयनकाले सत्संकल्पकरणम्॥**

२७. **ते च –ज्योतिर्मयोऽहं आनन्दमयोऽहं स्वस्थोऽहं निर्विकारोऽहं वीर्यवानहं–इत्यादयः॥**

२८. **निद्रामोक्षे जपो ध्यानञ्च॥**

२९. **परानिष्टचिन्तनेन मनोविघातः॥**

३०. **आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकासः॥**

२६. सोते समय पवित्र सकल्प करने चाहिए।

२७. मै ज्योतिर्मय हूं, आनन्दमय हूं, स्वस्थ हूं, निर्विकार हूं, वीर्यवान् हूं–आदि-आदि सत्सकल्प हैं। संकल्प करते समय मन स्थिर और पवित्र होना चाहिए।

२८. नींद टूटते ही जप और ध्यान करना चाहिए।

२९. दूसरों की अनिष्ट चिन्ता करने से मन की शक्ति का हनन होता है।

३०. आत्मौपम्य (प्राणी मात्र को अपने समान मानकर) चिन्तन करने से मन का विकास होता है।

संकल्प

मानसिक विकास के अनेक साधन है। उनमे दृढ़ संकल्प भी एक साधन है। दृढ संकल्प का व्यक्ति के जीवन पर सीधा असर होता है। उससे व्यक्ति के संस्कारों का निर्माण होता है। मन मे अच्छे विचार जागते हैं, तब व्यवहार पर भी अच्छाई का प्रतिविम्ब पडता है। किसी के प्रति वुरी भावना उठती है, तो उसका परिणाम भी लम्वे समय तक भुगतान पडता है।

प्रत्येक व्यक्ति मे मानवीय दुर्वलताए होती हैं। किसी मे क्रोध, किसी में ईर्ष्या तो किसी में आग्रह आदि-आदि। वृत्तियों की शुद्धि के लिए संकल्प सीधा मार्ग है। संकल्प की साधना करने वाला इन सूत्रों पर ध्यान दे :

(क) संकल्प दृढ़ निष्ठा व विश्वास के साथ करना चाहिए–मैं यह काम कर सकता हू, यह काम होकर रहेगा।

(ख) सकल्प उच्चारणपूर्वक होना चाहिए। कम से कम बीस-तीस वार सकल्प को जोर से बोलकर दोहराना चाहिए।

(ग) सकल्प में तन्मय होने से वह शरीर-व्यापी हो जाता है।

(घ) सोने से पहले और जागते ही—ये दो समय संकल्प के लिए अधिक फलप्रद होने हैं। सोते समय जो विचार किया जाता है, उसे सूक्ष्म (अवचेतन) मन शीघ्रता से ग्रहण करता है। इसलिए नीद मे भी उसका कार्य चलता रहता है। हम जिन विचारों का संकल्प लेकर सोते हैं, उठते समय वे ही विचार मन मे मिलते हैं। सोकर उठने के बाद इन्द्रियां और मन शान्त रहते है। उस समय का सस्कार मन पर दृढ़ व गहरा पडता है। इन दो समयो के अतिरिक्त जब भी समय मिले संकल्प को दोहराते रहना चाहिए, जिससे संकल्प-सिद्धि मे सहयोग मिलता रहे और अन्य प्रकार के विचार भी न घुसने पाएं।

(च) सकल्प को दोहराते समय लयबद्धता होनी चाहिए। दोहराने का स्वर जितना लम्बा होगा, उतनी ही स्थिरता बढ़ेगी। जितना कम समय होगा, उतनी ही स्थिरता कम होगी। भोजन के तत्काल वाद ऐसा नही करना चाहिए।

(छ) संकल्प मे सातत्य होना चाहिए। पांच दिन संकल्प किया, फिर दो दिन छोड दिया, फिर सात दिन किया, फिर छोड दिया—यह साधना का क्रम नही है। साधना का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

(ज) सकल्प तालयुक्त श्वास के साथ करना चाहिए। जो संकल्प श्वास के साथ भीतर जाता है, वह तीन मिनट में शरीर के प्रत्येक अवयव पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। पूरक के समय वह संकल्प करना चाहिए कि सकल्प्य वस्तु भीतर जा रही है। कुम्भक काल मे यह सकल्प होना चाहिए कि सकल्प्य वस्तु समूचे शरीर मे व्याप्त हो गई है। रेचनकाल में मन को खाली रखना चाहिए।

संकल्प की पद्धति से जिस स्वभाव को वर्दलना चाहे, उसे वदलने [illegible]म सफल हो सकते है। नये स्वभाव का निर्माण कर सकते है। अभ्यास

से व्यक्ति अपनी शक्ति वढा सकता है। अभ्यास न करने से जो शक्ति होती है, वह भी घट जाती है। आजकल लडकियां पढती हैं, कुछ वर्ष पहले नहीं पढ़ती थीं। क्या ज्ञानोपलब्धि की क्षमता पुरानी लडकियो मे नहीं थी ? किन्तु उचित सामग्री के अभाव में वह उपयोग में नही आ रही थी, अब आ रही है। उचित सामग्री के अभाव में विद्यमान शक्ति भी उसी तरह हो जाती है। संकल्प की साधना से जैसा चाहे, वैसा बन सकते है। मूल शक्ति व्यक्ति में ही होती है। वह हीन भावना की परतो के नीचे दबी रहती है। उसे पुरुषार्थ से जगाना अपेक्षित है। इसलिए साधना का महत्त्व है। नदियां अपने आप में बहती थीं। पर बांध वनाने से उनका उपयोग और बढ गया। आज उन्ही से लाखो एकड़ भूमि की सिचाई की जाती है। हम उपयोग करना जानें तो हमारे मन मे भी अनन्त शक्ति है।

सातवां प्रकरण

१. तपः सत्त्व-सूत्र-एकत्व-वलभेदात् पंचधा भावना प्रतिमां जिनकल्पं वा प्रतिपद्यमानस्य॥

२ तपसा क्षुधाजयः।

३ षण्मासं यावन्न वाधते क्षुधया॥

४ सत्त्वभावनया भयं निद्राञ्च पराजयते॥

५. उपाश्रय-तद्वहिः चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेष्विति स्थानभेदात् पंचधा॥

६ रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्गकरणं प्रथमा॥

७ क्वचिदुपाश्रयाद् वहिस्तात् कायोत्सर्गकरणं द्वितीया॥

८ चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरणं पराः॥

९. सूत्रभावनया कालज्ञानम्॥

१०. सूत्रपरावर्तनानुसरेण उच्छ्वास-प्राणादयः सर्वे कालभेदा अवगताः स्युस्तथा सूत्रपरिचयः॥

११. एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मानं भावयन् भवति निरभिष्वङ्गः॥

१२ वलभावनया परीषहाणां जयः॥

१३. वलं शारीरं मानसञ्च॥

१४. तत्र मानसं तथा परिवर्धितं यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत् वाधा॥

१५ यथाशक्ति चैताः परेषामपि॥

१ प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पांच भावनाएं होती है :

१. तप ४. एकत्व
२. सत्त्व ५. वल
३ सूत्र

वह इन भावनाओ से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पाच तुलाएं हैं, इनसे अपनी आत्मा को तोलता है। फिर प्रतिमा या जिनकल्प को स्वीकार करता है।

२. तप-भावना से भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।
३. वह परम योगी भूख को जीतते-जीतते ऐसा अभ्यास कर लेता है कि छह मास तक न खाने पर भी भूख से पीडित नही होता। उसका मन आर्त्त नही होता। शरीर में ग्लानि उत्पन्न नही होती।
४. सत्त्व भावना से भय और नीद पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।
५. क्रमिक अभ्यास के लिए वह उपाश्रय, उसके वाहरी भाग, चतुष्क, शून्यगृह और श्मशान—इन पांच स्थानो मे कायोत्सर्ग करता है।
६. रात के समय सब साधुओ के सोने पर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए उठकर उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना—यह पहली सत्त्व भावना है।
७. पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से वाहर कही एकान्त मे कायोत्सर्ग करना दूसरी सत्त्व भावना है।
८. अभ्यास का परिपाक होते-होते चौराहे, सूने घर व श्मशान मे कायोत्सर्ग करना—क्रमश· तीसरी, चौथी और पाचवीं सत्त्व भावना है।
९. सूत्र भावना से समय का ज्ञान होता है।
१०. सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदो का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रो को परिचित करने का अभ्यास किया जाता है। श्वास-प्रश्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है। एक मात्रा भी इतस्तत नही होती।
११. एकत्व भावना के द्वारा देह और उपकरणो से अपनी आत्मा को

भिन्न रूप में भावित कर निर्लेपता का अभ्यास किया जाता है।
१२ वलभावना से परीपहो (कष्टो) पर विजय प्राप्त की जाती है।
१३. वल दो प्रकार का होता है :
    १ शारीरिक
    २. मानसिक
१४ उनके द्वारा मनोबल इतना परिवर्धित किया जाता है, जिससे परीपहो व उपसर्गो के समुत्पन्न होने पर भी वह कभी विचलित नहीं होता।
१५. प्रतिमाधर व जिनकल्प मुनि इन भावनाओ से अपने-आपको पूर्णत. भावित करता है। किन्तु यथाशक्ति दूसरे भिक्षु या गृहस्थ भी अपने आपको भावित कर सकते है।

साधना की उच्च प्रक्रिया

भूख, पराक्रम-हीनता, अज्ञान, आसक्ति और दुर्वलता—ये पाच साधना के वहुत वडे विघ्न है। इन पर जितने अश में विजय पायी जाती है, उतने ही अश मे साधना उद्दीप्त होती है। दीर्घकाल तक कायोत्सर्ग करने का इच्छुक साधक अथवा तीर्थकर तुल्य साधना करने का इच्छुक साधक उन विघ्नो पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। साधना के प्रथम चरण मे भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है। दूसरे चरण मे भय और निद्रा पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। तीसरे चरण मे प्राण की सूक्ष्मता के साथ शास्त्रीय ज्ञान का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ चरण में सव पदार्थो से भिन्नता की दृढ अनुभूति प्राप्त कर आसक्ति पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। पांचवें चरण मे साधना में आने वाले कष्टो पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है।

कण्ठकूप मे वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है। यह पाचवे प्रकरण मे वतलाया गया है। वहां भूखविजय की भावनात्मक प्रक्रिया का उल्लेख है। खाए बिना रहने का वार-वार अभ्यास तथा आहार न करते हुए भी तृप्ति और पुष्टि की अनुभूति या संकल्प करने से शरीर मे कुछ रासायनिक परि और भूख की प्रखरता मन्द हो जाती है। इस

मास तक खाए बिना रह जाता है।

भय और नींद पर विजय पाने के लिए पांच अभ्यासक्रम बतलाए गए हैं—रात्रि के समय उपाश्रय में कायोत्सर्ग करना। उसके सध जाने पर उपाश्रय के आस-पास बाहरी भाग में कायोत्सर्ग करना। वहां अभय प्राप्त हो जाने पर चौराहे में कायोत्सर्ग करना। फिर सूने घर से और श्मशान में। इस प्रकार क्रमिक अभ्यास से भय और नीद—दोनो पर विजय प्राप्त हो जाती है।

प्राण, मन और वाणी—तीनो मे सामरस्य या सामंजस्य उत्पन्न करने पर चित्त की चंचलता या विषमता क्षीण हो जाती है। सूत्र भावना के द्वारा साधक इसी सामरस्य का अभ्यास करता है। उच्चारण और काल की मात्रा इतनी सध जानी चाहिए कि उच्चारण के द्वारा काल को और काल के द्वारा उच्चारण को मापा जा सके। कायोत्सर्ग या ध्यान में काल का ज्ञान उच्चारण और श्वास के द्वारा ही किया जाता है। एक श्वास-प्रश्वास मे श्लोक के एक चरण का उच्चारण किया जाए तो एक मिनट मे बारह चरण उच्चारित होते हैं। इसका अर्थ हुआ एक मिनट में बारह श्वास-प्रश्वास लिये जाते हैं। अभ्यास की परिपक्वता होने पर बारह चरणो के उच्चारण का अर्थ होता है—वारह श्वास-प्रश्वास और वारह श्वास-प्रश्वासो का अर्थ होता है—एक मिनट। इस प्रकार उच्चारण, श्वास-प्रश्वास और समय—तीनों की दूरी समाप्त होकर वे एकरूप हो जाते हैं। इस प्रक्रिया मे चिरकाल के वाद श्वास की गति मन्द हो जाती है। एक मिनट मे आने वाले सोलह-सत्रह श्वास घटकर पांच-सात रह जाते है। जिस प्रकार श्वास की गति मन्द होगी, उसी अनुपात से उच्चारण की संख्या भी कम हो जाएगी। इस साधना की अंतिम परिणति प्राणलब्धि के रूप में वदल जाती है। प्राण-लब्धि-सम्पन्न साधक मानस-चक्षु से असीम ज्ञान का साक्षात् कर लेता है।

आसक्ति द्वैत में पैदा होती है। अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—वहां क्या मोह और क्या शोक होगा जो एकत्व को देखता है—

तत्र को मोह· क· शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

एकत्व की भावना का दृढ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि

पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। सयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते किन्तु इस वास्तविकता को भी नही भुला सकते कि अन्ततः आत्मा उन सबसे भिन्न है। इस भेदज्ञान की अनुभूति को पुष्ट कर साधक देह में रहते हुए भी देह के वन्धन से मुक्त हो जाता है।

वल की भावना से साधना की यात्रा मे आने वाले कष्टो को सहन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन पांच भावनाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते है कि साधक वहीं व्यक्ति हो सकता है जो तपस्वी है, पराक्रमी है, ज्ञानी है, जिसे भेदज्ञान का दृढ़ अभ्यास है ओर जो वलवान् है। ये भावनाएं कुछ लोगों मे--जिनका शारीरिक संहनन सुदृढ और मनोवल विकसित होता है--अधिक जागृत होती हैं।

कुछ लोगो की धारणा है कि ये भावनाएं पुराने जमाने मे ही हो सकती थीं, आज नही हो सकती। किन्तु यह धारणा निराशा को जन्म देती है। आज भी शक्ति के अनुसार ये भावनाएं हो सकती हैं। यदि हम यह मानकर वैठ जाए तो हमारे सामने कुछ करने का अवकाश ही नही रहता। यदि हम इनकी सभावना को स्वीकार करते है तो अवश्य ही कुछ न कुछ आगे वढते हैं।

परिशिष्ट

१
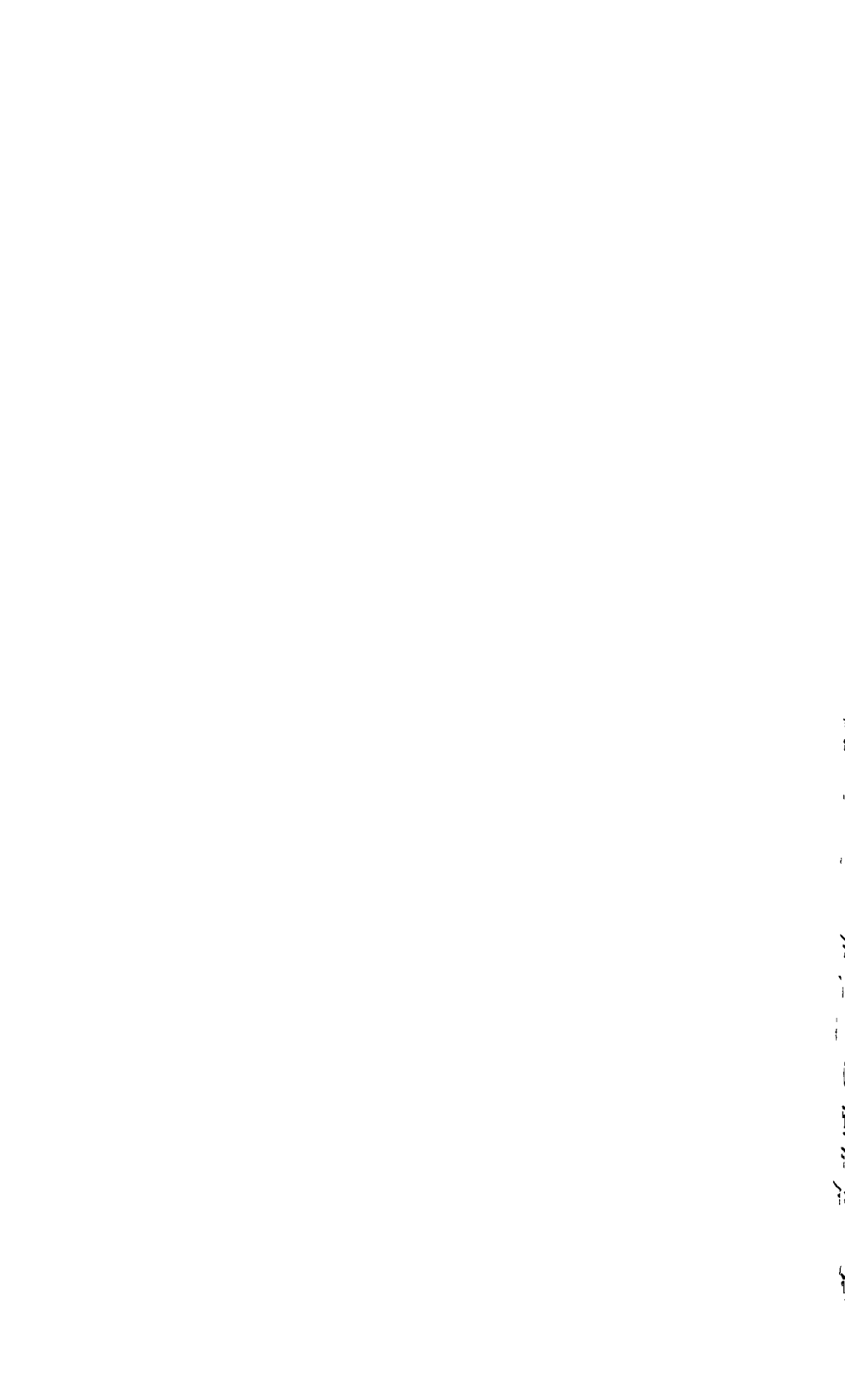
प्रेक्षा की पांच भूमिकाएं

प्रेक्षा की सामान्य विधि का शिविर काल मे उपयोग किया जाता है। प्रस्तुत भूमिकाए विशेष प्रयोग की है जो व्यक्ति अनेक शिविर कर लेते हैं उन्हें तथा जो प्रशिक्षक की अर्हता प्राप्त करते है उन्हे इन भूमिकाओं का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

प्रथम भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान : श्वास प्रेक्षा

(क) प्रेक्षा-ध्यान : दीर्घ श्वास के साथ

कायोत्सर्ग मुद्रा मे, सुखासन या पद्मासन मे स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक श्वास और प्रश्वास को दीर्घ—लम्बा करते हुए श्वास की प्रेक्षा का अभ्यास करे।

समय—दस मिनट से एक घटा तक।

(ख) प्रेक्षा-ध्यान : समवृत्ति श्वास के साथ

मुद्रा और आसन—ऊपरवत्।

संकल्पपूर्वक श्वास के स्वर को बदलते हुए, प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे समान समय लगाए और श्वास की प्रेक्षा का अभ्यास करे।

समय—पाच मिनट से एक घंटा तक।

(ग) प्रेक्षा-ध्यान : सहज श्वास के साथ

मुद्रा और आसन—ऊपरवत्

सहज श्वास की प्रेक्षा करे।

समय—पांच मिनट से एक घटा तक।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

एक बिन्दु पर दृष्टि टिकाकर अनिमेष ध्यान करे। बिन्दु दृष्टि की समरेखा में तीन फीट की दूरी पर होना चाहिए। भृकुटि या नासाग्र पर भी किया जा सकता है।

समय—एक मिनट से पांच मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **अनित्य अनुप्रेक्षा**

समय—पांच मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**

समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

(ग) **'हुं' भावना**

समय—पाच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम

रेचनपूर्वक बाह्य कुम्भक।

समय—पांच मिनट तक सुविधापूर्वक जितनी आवृत्तियां हो सके।

५. संकल्प-योग

प्रातःकालीन जागरण के साथ पांच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणों का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणों से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पांच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियां का सजगतापूर्वक निरीक्षण करे—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियों में भाव-क्रिया का अभ्यास करें—वर्तमान क्रिया में तन्मय रहने का अभ्यास करें। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का, इत्यादि। जो क्रिया करें उसकी स्मृति बनी रहे।[1]

द्वितीय भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा**—प्रेक्षा-ध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ—कायोत्सर्ग मुद्रा में सुखासन या पद्मासन में स्थित हो सूक्ष्म श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करें।

समय—दस मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **प्रकम्पन-प्रेक्षा**—सिर से लेकर पैर तक क्रमशः शरीर के प्रत्येक अवयव में सूक्ष्म श्वास के साथ प्रकम्पन पैदा करें और उनकी प्रेक्षा करें।

समय—पांच मिनट से एक घंटा तक।

---

१ प्रेक्षा-ध्यान की प्रथम भूमिका के साधक के लिए निम्नलिखित चर्या आदि का पालन आवश्यक होगा—

१ आहार-संयम

(क) परिमित भोजन।

(ख) मादक, उत्तेजक और गरिष्ठ भोजन का वर्जन (जैसे—औषध आदि के अतिरिक्त लहसुन, प्याज आदि उत्तेजक, भांग आदि मादक तथा [illegible], मावा, तली हुई खाद्य-सामग्री आदि गरिष्ठ भोजन का वर्जन।

२ वाणी-संयम—प्रतिदिन कम से कम दो घंटे मौन।

३ निद्रा-संयम—प्रतिदिन छः या सात घंटे से अधिक निद्रा का वर्जन।

४ व्रत-साधना—अणुव्रत या व्रत-दीक्षा।

(ग) **सहज प्रकम्पन-प्रेक्षा**– सिर से लेकर पैर तक प्रत्येक अवयव मे होने वाले सहज प्रकम्पनो का निरीक्षण करें।
समय—पांच मिनट से एक घंटा तक।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

समय—तीन मिनट से सात मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **एकत्व-अनुप्रेक्षा**
समय—पांच मिनट से एक घंटा तक।
(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।
(ग) **'हुं' भावना**
समय—पांव मिनट से आधा घंटा तक।

४. श्वास-संयम

रेचकपूर्वक बाह्य कुम्भक।
समय—पांच मिनट तक सुविधापूर्वक जितनी आवृत्तियां हो सके।

५. संकल्प योग

प्रातःकालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहें, उन गुणों की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पांच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियों का सजगतापूर्वक निरीक्षण करें—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करें।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियों मे भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करें। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति वनी रहे।[१]

तृतीय भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा—प्रेक्षाध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ**—कायोत्सर्ग मुद्रा में, सुखासन या पद्मासन में स्थित हो सूक्ष्म श्वास के साथ श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करें।
समय—दस मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **सहज प्रकम्पन-प्रेक्षा**—सिर से लेकर पैर तक प्रत्येक अवयव मे होने वाले सहज प्रकम्पनो का निरीक्षण करे।
समय—पाच मिनट से एक घंटा तक।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे इन्द्रिय-विपयो की सप्रेक्षा।
समय—पाच मिनट से एक घटा तक।

---

१ प्रेक्षा-ध्यान की द्वितीय भूमिका के साधक के लिए निम्नलिखित चर्या आदि का पालन आवश्यक होगा—

१ आहार-संयम—प्रथम भूमिकावत्।
२ वाणी-संयम—प्रतिदिन तीन घटा मोन।
३ निद्रा-सयम—प्रथम भूमिकावत्।
४. व्रत-साधना—अणुव्रत या व्रत-दीक्षा।
५ स्वाध्याय
६ आसन-प्रयोग—पद्मासन (मूलबंध सहित), बद्धपद्मासन (समय-पांच मिनट), सिंहासन, जालन्धरबन्ध, कायोत्सर्गासन (समय-दस मिनट)।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष-प्रेक्षा

समय—पांच मिनट से नौ मिनट तक।

३. भावना-योग

(क) **अशरण-अनुप्रेक्षा**
समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

(ग) **'ऐं' भावना**
समय—पांच मिनट से आधा घटा तक।

४. श्वास-संयम : केवल कुम्भक

पूरक-रेचक किए बिना श्वास भीतर हो तो भीतर, वाहर हो तो वाहर, जहां कही हो उसे वहा रोककर कुम्भक किया जाए। दस या पन्द्रह आवृत्तियां की जाए।

५. संकल्प-योग

प्रातःकालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करे। जिन गुणो का विकास चाहे, उन गुणों की तन्मयता का अनुभव करें—उन गुणो से चित्त को भावित करे।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पांच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियो का सजगतापूर्वक निरीक्षण करें—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो में भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही

अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का ही, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति वनी रहे।[9]

चतुर्थ भूमिका

१. **प्रेक्षा-ध्यान**

(क) **श्वास-प्रेक्षा : प्रेक्षा-ध्यान सूक्ष्म श्वास के साथ**
समय—दस मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **संयम**—मन, वचन, काया की जो माग सामने आए, उसे अस्वीकार करना, विकल्प का उत्तर न देना—प्रतिक्रिया न होने देना। केवल इन्द्रियो से काम लेना, उनके साथ मन को न जोड़ना। ईहा न करना। प्रियता और अप्रियता के मध्यविन्दु की खोज करना, मध्य मे रहना—मध्यस्थ भाव का विकास करना।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे विचार-संप्रेक्षा।

२. **प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष-प्रेक्षा**

समय—पांच मिनट से नौ मिनट तक।

३. **भावना-योग**

(क) **मैत्री-अनुप्रेक्षा**
समय—पांच मिनट से एक घंटा तक।

(ख) **अर्हम् भावना**
समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

(ग) **'ऐं' भावना**
समय—पाच मिनट से आधा घंटा तक।

४. **श्वास-संयम : केवल कुम्भक**

पूरक-रेचक किए विना श्वास भीतर हो तो भीतर, वाहर हो तो वाहर,

जहा कहीं हो उसे रोककर कुम्भक किया जाए। दस या पन्द्रह आवृत्तियां की जाएं।

५. संकल्प-योग

प्रात.कालीन जागरण के साथ पाच मिनट तक भावना का अभ्यास करें। जिन गुणों का विकास चाहे, उन गुणो की तन्मयता का अनुभव करे—उन गुणों से चित्त को भावित करें।

६. प्रतिक्रमण-योग

रात्रि-शयन से पूर्व पांच मिनट तक अपनी अतीत की प्रवृत्तियों का सजगतापूर्वक निरीक्षण करें—समय की अपेक्षा से प्रतिलोम निरीक्षण करे।

७. भाव-क्रिया

अपनी दैनिक प्रवृत्तियों में भाव-क्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया मे तन्मय रहने का अभ्यास करें। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का ही, इत्यादि। जो क्रिया करे, उसकी स्मृति बनी रहे।[१]

पांचवीं भूमिका

१. प्रेक्षा-ध्यान

(क) **श्वास-प्रेक्षा**—पूर्ववत्।

(ख) **धर्म-प्रेक्षा**—(धर्म ध्यान)

भूत, वर्तमान और भविष्य के धर्मो अथवा पर्यायों को देखना—विपाक-प्रेक्षा, अपायप्रेक्षा, संस्थान-प्रेक्षा।

(ग) **सामायिक**—ज्ञाता और द्रष्टा के रूप मे वेदना-संप्रेक्षा।

२. प्रेक्षा-ध्यान : अनिमेष प्रेक्षा

पूर्ववत्।

---

१. चतुर्थ भूमिका के साधक की चर्या आदि पूर्ववत् रहेगी। केवल आसनो के समय मे इस प्रकार परिवर्तन होगा—
बद्धपद्मासन—पन्द्रह मिनट।
कायोत्सर्गासन—पचीस मिनट।

(ख) **अर्हम् भावना**

समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

(ग) **ॐ ह्रीं श्रीं अर्हम् नमः भावना**

समय—पांच मिनट से आधा घंटा तक।

४. श्वास-संयम

एक मिनट मे एक श्वास या दो मिनट में एक श्वास का प्रयोग।

५ संकल्प-योग

पूर्ववत्

६. प्रतिक्रमण-योग

पूर्ववत्।

७. भाव-क्रिया

पूर्ववत्[1]।

पांच भूमिकाओ की कालावधि इस प्रकार है—

प्रथम भूमिका —एक मास

द्वितीय भूमिका —दो मास

तृतीय भूमिका —तीन मास

चतुर्थ भूमिका —चार मास

पंचम भूमिका —पांच मास

२

प्रेक्षाध्यान के आधारभूत तत्त्व

जैन साधको की ध्यान-पद्धति क्या है—यह प्रश्न किसी दूसरे ने नही पूछा, स्वयं हमने ही अपने आपसे पूछा। पन्द्रह वर्ष पूर्व (वि॰ स॰ २०१७), यह प्रश्न मन में उठा और उत्तर की खोज शुरू हो गई। उत्तर दो दिशाओ से पाना था—एक आचार्य से, दूसरा आगम से। आचार्यश्री ने पथ-दर्शन दिया और मुझे प्रेरित किया कि आगम से इनका विशद उत्तर प्राप्त किया जाए।

आगम-साहित्य मे ध्यान विषयक कोई स्वतन्त्र आगम उपलब्ध नही है। नंदी-सूत्र की उत्कालिक आगमों की सूची में 'ध्यान-विभक्ति' नामक आगम का उल्लेख है, किन्तु वह आज उपलब्ध नही है।[1] इस स्थिति मे उपलब्ध आगम साहित्य मे आए हुए ध्यान-विषयक प्रकरणो का अध्ययन शुरू किया और साथ-साथ उनके व्याख्या-ग्रंथो तथा ध्यान-विषयक उत्तरवर्ती साहित्य का भी अवगाहन किया। इस अध्ययन से जो प्राप्त हुआ उसके आधार पर ध्यान की एक रूपरेखा उत्तराध्ययन के टिप्पणो मे प्रस्तुत की गई।[2] विक्रम संवत् २०१८ में आचार्यश्री ने 'मनोनुशासनम्' की रचना की। मैंने पहले उसका अनुवाद किया और वि॰ स॰ २०२४ में उस पर विशद व्याख्या लिखी। उसमे जैन-साधना पद्धति के कुछ रहस्य उद्घाटित हुए। वि॰ स॰ २०२८ मे आचार्यश्री के सान्निध्य मे साधु-साध्वियो की विशाल परिपद् मे जैन योग के विपय मे पांच भापण हुए। उससे दृप्टिकोण को और कुछ स्पप्टता मिली। वे 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' इस शीर्पक से

---

१. नदी-सूत्र, ७६

२. देखे—उत्तरज्झयणाणि, भाग-२

प्रकाशित है। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के वर्ष में 'महावीर की साधना का रहस्य' पुस्तक प्रकाशित हुई। ये सारे प्रयत्न उसी प्रश्न का उत्तर पाने की दिशा में चल रहे थे।

उस प्रश्न का वीज विक्रम संवत् २०१२ के उज्जैन चातुर्मास मे वोया गया था। वहां आचार्यश्री के मन में साधना विषयक नये उन्मेष लाने की वात आयी। 'कुशल-साधना'—इस नाम से कुछ अभ्यास-सूत्र निर्धारित किये गए और साधु-साध्वियों ने उनका अभ्यास शुरू किया। साधना के क्षेत्र मे यह एक प्रथम रश्मि थी। उससे वहुत नहीं, फिर भी कुछ आलोक अवश्य मिला। उसके पश्चात् अनेक छोटे-छोटे प्रयत्न चलते रहे। वि॰ सं॰ २०२० की सर्दियो मे मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 'प्रणिधान कक्ष' का प्रयोग किया गया। उस दस दिवसीय साधनासत्र मे काफी वडी संख्या में साधु-साध्वियां ने भाग लिया। उसमे 'जैन योग' पर काफी चर्चा हुई। भावक्रिया के विशेष प्रयोग किए गए। उस चर्चा का संक्षिप्त संकलन 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' पुस्तक में प्राप्त है।

कई शताब्दियो से पहले विच्छिन्न ध्यान-परम्परा की खोज के लिए ये सभी प्रयत्न पर्याप्त सिद्ध नही हुए। जैसे-जैसे कुछ रहस्य समझ मे आते गए, वैसे-वैसे प्रयत्न को तीव्र करने की आवश्यकता अनुभव होती गयी। वि. सं. २०२६ में लाडनू मे एकमासीय साधना-सत्र का आयोजन किया गया। उसके वाद चूरू, राजगढ, हिसार और दिल्ली—इन चारो स्थानों मे दस-दस दिवसीय साधना-सत्र आयोजित किए गए। ये सभी साधना-सत्र 'तुलसी अध्यात्म नीड्म' जैन विश्वभारती के तत्त्वावधान मे और आचार्य तुलसी के सान्निध्य मे सम्पन्न हुए। इन शिविरों ने साधना का पुष्ट वातावरण निर्मित किया। अनेक साधु-साध्विया तथा गृहस्थ ध्यानसाधना में रुचि लेने लगे। अनेक साधु-साध्वियां इस विषय मे विशेष अभ्यास और प्रयोग भी करने लगे।

इन बहु-आयामी प्रयत्नों के द्वारा भावक्रिया, कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा, भावना—ये विषय उत्तरोत्तर स्पष्ट होते गए, किन्तु ध्यान का विषय उतना स्पष्ट नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। ध्यान के [illegible] अर्थ हाथ नही लगा। गुरुमुख से जो अर्थ समझाया जाता था [illegible] सिखायी जाती थी, वह प्राप्त नहीं हो सकी। वि. सं. [illegible]

के लाडनूं चातुर्मास मे मैंने आचारांग का अनुवाद प्रारम्भ किया। उसके ध्यान सूत्रों की ओर दृष्टि आकर्षित हुई। वह सूत्रात्मक शैली मे लिखा हुआ आगम है। उसमे ध्यान के सूत्र पकड़ में आए, किन्तु उनकी अभ्यास-पद्धति परम्परा के अभाव में कैसे पकड़ी जा सकती थी ? महर्षि पंतजलि के 'योगसूत्र और बौद्धो के 'विशुद्धिमग्ग' के आलोक मे आचाराग के 'ध्यानसूत्रों की अभ्यास-पद्धति को समझने का प्रयत्न किया गया और उसमें कुछ सफलता मिली। वि॰ सं॰ २०३१ में 'अध्यात्म साधना केन्द्र' दिल्ली में सत्यनारायणजी गोयनका ने 'विपश्यना ध्यान शिविर' का आयोजन किया। उसमें अनेक साधु-साध्वियों ने भाग लिया। मैं भी उसमें सम्मिलित था। उस शिविर में हम लोग 'आनापानसती' और 'विपश्यना' का प्रयोग कर रहे थे। मैं प्रयोग के साथ-साथ अपने प्रश्न का समाधान भी खोज रहा था और उससे कुछ समाधान मिला भी। जैन और बौद्ध—दोनों एक ही श्रमण परम्परा के अंग हैं। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध—दोनों सम-सामयिक हैं। दोनो की ध्यानपद्धति मे साम्य है। राग-द्वेष के मल को क्षीण कर चित्त को निर्मल बनाना और चैतसिक निर्मलता के द्वारा चेतना को जागृत करना, दोनो परम्पराओ को इष्ट है। बौद्ध परम्परा मे ध्यान शाखा का अस्तित्व उपदेश शाखा से स्वतन्त्र रहा, इसलिए उसमे ध्यान के अभ्यास की पद्धति अविच्छिन्न रूप में चलती रही। जैन परम्परा में ध्यान की कोई स्वतन्त्र शाखा नही रही, इसलिए उसके ध्यानसूत्रो की अभ्यास-पद्धति विच्छिन्न हो गयी। उस विच्छिन्न अभ्यास-पद्धति को समझने मे विपश्यना ध्यान का प्रयोग बहुत सहायक सिद्ध हुआ। गोयनकाजी जैसे साधना-सिद्ध, उदारमना और ऋजु-प्रकृति के व्यक्ति से विपश्यना के रहस्यो को समझने में और अधिक सहायता मिली। उसी वर्ष (वि॰ सं॰ २०३१) लाडनूं मे तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती के तत्त्वावधान में फिर बीस दिवसीय विपश्यना ध्यान शिविर आयोजित किया गया। उसमें सौ से अधिक साधु-साध्वियां सम्मिलित थी। बीस दिन के निरन्तर अभ्यास से जहां विपश्यना की गहराई मे उतरने का अवसर मिला, वहा उसके अन्तस्थल की गहराई को समझने का भी मौका मिला। जैन परम्परा के ध्यान-सूत्रो की अभ्यास पद्धति और अधिक स्पष्ट हो गई। हमने साधना की सभी पद्धतियों—हठयोग, तन्त्रशास्त्र, शैव, शाक्त, राजयोग आदि का

अनुशीलन किया और उनसे लाभ भी उठाया, किन्तु उनके शिविरकालीन अभ्यास में सम्मिलित होने का अवसर नही मिला। ध्यान का रहस्य सिद्धान्त से नही समझा जा सकता, वह अभ्यास से समझा जा सकता है।

वि॰ स॰ २०३२ जयपुर चातुर्मास में जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ। हम लोग आचार्यश्री के उपपात में बैठे और संकल्पपूर्ति का उपक्रम शुरू हुआ। हमने ध्यान की इस अभ्यास-विधि का नामकरण 'प्रेक्षा-ध्यान' किया। इसकी पांच भूमिकाएं निर्धारित की गयी। यह 'प्रेक्षा-ध्यान-पद्धति' के विकास का संक्षिप्त इतिहास है।

प्रेक्षा

प्रेक्षा शब्द ईक्ष् धातु से बना है। इसका अर्थ है—देखना। प्र+ईक्षा =प्रेक्षा, इसका अर्थ है—गहराई में उतरकर देखना। विपश्यना का भी यही अर्थ है। जैन साहित्य में प्रेक्षा और विपश्यना—ये दोनो शब्द प्रयुक्त है। प्रेक्षा-ध्यान और विपश्यना ध्यान—ये दोनों शब्द इस ध्यान-पद्धति के लिए प्रयुक्त किए जा सकते थे, किन्तु 'विपश्यना-ध्यान' इस नाम से बौद्धो की ध्यान-पद्धति प्रचलित है। इसलिए 'प्रेक्षा-ध्यान' इस नाम का चुनाव किया गया। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—'आत्मा के द्वारा आत्मा की सप्रेक्षा करो, मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है। इसीलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षा-ध्यान' रखा गया है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत चेतना में जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है—जानो और देखो। भगवान् महावीर ने साधना के जो सूत्र दिए हैं, उनमें 'जानो और देखो' यही मुख्य है। 'चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो'—यह बहुत गौण और बहुत प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाता।

क्रम को देख।[1] जो क्रोध को देखता है, वह मान को देखता है। जो मान को देखता है, वह माया को देखता है। जो माया को देखता है, वह लोभ को देखता है। जो लोभ को देखता है, वह प्रिय को देखता है। जो प्रिय को देखता है, वह अप्रिय को देखता है। जो अप्रिय को देखता है, वह मोह को देखता है। जो मोह को देखता है, वह गर्भ को देखता है। जो गर्भ को देखता है, वह जन्म को देखता है। जो जन्म को देखता है, वह मृत्यु को देखता है। जो मृत्यु को देखता है, वह नरक और तिर्यञ्च को देखता है। जो नरक और तिर्यञ्च को देखता हे, वह दुःख को देखता है। जो दुःख को देखता है वह क्रोध से लेकर दुःख पर्यन्त होने वाले इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है।[2] 'यह निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।'[3] 'तू देख यह लोक चारों ओर प्रकंपित हो रहा है।'[4] ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं और मध्य में स्रोत हैं। उन्हें तुम 'देखो।[5] 'महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ—मन, वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर) होकर जानता-देखता है।[6] 'जो देखता है उसके लिए कोई उपदेश नहीं होता।[7] जो देखता है उसके कोई उपाधि होती है या नही होती ? उत्तर मिला—नही होती।[8]

उक्त कुछ सूत्रो से देखने और जानने की बात समझ मे आ सकती है। देखना साधक का सबसे बडा सूत्र है। जब हम देखते है तब सोचते नहीं हैं और जव हम सोचते हैं तब देखते नही हैं। विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और सबसे अतिम साधन है—देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोडने का सबसे सशक्त उपाय है—देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखें, विचार

---

१. आयारो, ३/२६ . जाति च वुड्ढि च इहज्ज ! पासे।
२. आयारो, ३/८३, ८४।
३. आयारो, ३/८५ · एय पासगस्स दसण उवरयसत्थस्स पलियतकरस्स।
४. आयारो, ४/३७ लोय च पास विप्फदमाण।
५. आयारो, ५/११८
६ आयारो, ५/१२० एस मह अकम्मा जाणति पासति।
७ आयारो, २/१८५ उद्देसो पासगस्स णत्थि।
८ आयारो, ३/८७ किमत्थि उवाहि पासगस्स ण विज्जइ ? णत्थि।

समाप्त हो जाएंगे, विकल्प शून्य हो जाएंगे। आप स्थिर होकर अपने भीतर देखें,—अपने विचारो को देखें या शरीर के प्रकम्पनों को देखें तो आप पाएंगे कि विचार स्थगित हैं और विकल्प शून्य हैं। भीतर की गहराइयो को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमे वाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

देखना वह है, जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाए, राग और द्वेष उभर जाएं वहां देखना गौण हो जाता है। यही वात जानने पर लागू होती है।

हम पहले देखते हैं, फिर जानते हैं। इसे इस भाषा में स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते हैं, वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं। मन से देखने को 'पश्यत्ता' (पासणया) कहा गया है। इन्द्रिय-संवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

जो पश्यक—द्रष्टा है, उसका दृश्य के प्रति दृष्टिकोण ही वदल जाता है।[1]

भगवान् महावीर ऊंचे, नीचे और मध्य में प्रेक्षा करते हुए समाधि को प्राप्त हो जाते थे।[2] उक्त चर्चा के सन्दर्भ मे प्रेक्षा-ध्यान का मूल्याकन किया जा सकता है।

माध्यस्थ्य या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रजित नही होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नही होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनो की उपेक्षा करता है—दोनो को निकटता से देखता है। और उन्हे निकटता से देखता है इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नही किया जा सकता। 'जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।'[3]

चक्षु दृश्य को देखता है पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है, तब न वह कर्मबन्ध करता है, और न विपाक में आये हुए कर्म का वेदन करता है।[१] जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है, वह व्याधि या अन्य आगतुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है, पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नहीं करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नहीं होती किन्तु कर्म के बंध, सत्ता उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

अप्रमाद

ध्यान का स्वरूप है अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत जागरूकता। भगवान् महावीर दिन-रात जागृत रहते थे।[२] जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र होता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है। भगवान् महावीर ने कहा—जो प्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति, अपने चैतन्य के प्रति जागृत नही होता, वह सब ओर से भय का अनुभव करता है। जो अप्रमत्त होता है, अपने अस्तित्व के प्रति, अपने चैतन्त के प्रति जागृत होता है, वह कही भी भय का अनुभव नही करता, सर्वथा अभय होता है।[३]

भगवान् ने अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम से कहा—'समय गोयम ! मा पमायए' गौतम ! तू क्षणभर भी प्रमाद मत कर।[४] यह उपदेश-गाथा है।

---

१ समयसार, गाथा ३१६, ३२०
अण्णाणी कम्मफल पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेहु।
णाणी पुण कम्मफल जाणइ उदिय ण वेदेइ॥३१६॥
दिट्ठी जहेव णाण अकारय तह अवेदय चेव।
जाणइ य वधमोक्ख कम्मुदय णिज्जर चेव॥३२०॥

२ आयारो, ६/१/४
राइ दिव पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।

३. आयारो, ३/७५ :
सव्वतो पमत्तस्स भय, सव्वतो अप्पमत्तस्स नत्थि भय।

४ उत्तरज्झयणाणि, १०/१

पर अभ्यास की कुशलता के विना कैसे संभव है कि व्यक्ति क्षणभर भी प्रमाद न करे ? भगवान् ने गौतम को अप्रमाद का उपदेश दिया तो अप्रमत्त रहने की साधना भी बतलाई होगी। अन्यथा इस उपदेश का कोई अर्थ भी नही होता। मन इतना चंचल और मोहग्रस्त है कि मनुष्य क्षणभर भी अप्रमत्त नहीं रह पाता। वह अप्रमाद की साधना क्या है ? अप्रमाद के आलम्बन क्या है ? जिनके सहारे गौतम अप्रमत्त रहे और कोई भी व्यक्ति अप्रमत्त रह सकता है। उन आलम्बनों की क्रमबद्ध व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है, फिर भी महावीर की वाणी मे वे आलंबन-बीज यत्र-तत्र विखरे हुए आज भी उपलब्ध है। इस प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में उन्ही बिखरे वीजो को एकत्र किया गया है। अप्रमाद के मुख्य आलंबन ये हैं :

१ श्वास-प्रेक्षा
२ कायोत्सर्ग
३ शरीर-प्रेक्षा
४. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा
५. समता
६. संयम
७. भावना
८. अनुप्रेक्षा
९. एकाग्रता।

१. श्वास-प्रेक्षा

मन की शान्त स्थिति या एकाग्रता के लिए श्वास का शान्त होना बहुत जरूरी है। शान्त श्वास के दो रूप मिलते हैं—१. सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, २. मन्द श्वास-प्रश्वास। कायोत्सर्ग शतक में वताया गया है कि धर्म्य और शुक्ल ध्यान के समय श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म कर लेना चाहिए।[1]

ध्यान तीन प्रकार के होते है—कायिक, वाचिक और मानसिक। शरीर की प्रवृत्तियो का निरोध करना कायिक ध्यान है। इस ध्यान मे श्वास-प्रश्वास का निरोध नही किया जाता किन्तु उसे सूक्ष्म कर लिया जाता है।[2] आचार्य

---

१ कायोत्सर्ग शतक, गाथा, ५१ ।
[illegible] सुहुमाणुपाणू, धम्मं सुक्कं च झाइज्जा।

२ [illegible] भाष्य पीठिका, गाथा १२३ ।
[illegible] निरुंभित्ता मणं वायं च सव्वसो।
[illegible] झाणे सुहुमुस्सासव मुणी॥

मलयगिरि ने इसके विवरण में लिखा है कि कायोत्सर्ग में सूक्ष्म श्वास का निरोध नहीं होता, क्योकि वह किया नही जा सकता।[1] 'कायोत्सर्ग शतक' में भी सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास के विधान के साथ सर्वथा श्वास के निरोध का निषेध किया गया है—'अभिनव-कायोत्सर्ग' करने वाला भी सम्पूर्ण रूप से श्वास का निरोध नही करता तो फिर चेष्टा-कायोत्सर्ग करने वाला उसका निरोध क्यों करेगा ? श्वास के निरोध से मृत्यु हो जाती है, अत· कायोत्सर्ग में यतनापूर्वक सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए।[2] यह सूक्ष्म श्वास स्थूल श्वास-निरोध या कुंभक की कोटि मे आ जाता है।

पार्श्वनाथ चरित्र में ध्यानमुद्रा का स्वरूप प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है—पर्यक-आसन, मन, वचन और शरीर के व्यापार का निरोध, नासाग्रदृष्टि और मन्द श्वास-प्रश्वास।[3] सोमदेव सूरी ने लिखा है—वायु को मन्द-मन्द लेना चाहिए और मन्द-मन्द छोड़ना चाहिए।[4]

श्वास-विजय या श्वास-नियन्त्रण के बिना ध्यान नहीं हो सकता—यह सचाई सर्वात्मना स्वीकृत रही है। बृहद् नयचक्र मे योगी का पहला विशेपण श्वासविजेता है।[5]

सोमदेव सूरी ने भी 'मरुतो नियम्य'—इस वाक्य मे श्वास-नियंत्रण का निर्देश किया है।[6]

---

१. व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा १२३, मलयगिरि वृत्ति पत्र ४२
न खलु कायोत्सर्गे सूक्ष्मोच्छ्वासादयो निरुध्यते, तन्निरोधस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् पर्तते।

२ कयोत्सर्ग शतक, गाथा ५६ ·
उस्सासं न निरुभई, आभिग्गहिओवि किमु अ चिट्ठाउ ?
सज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सास तु जयणाए॥

३. पासनाहचरिअं, पृ॰ ३०४
पलिय-क वधेउ, निरुद्धमणवयणकायवावारो।
नासग्गनिमियनयणो, मदीकयसासनीसासो॥

४ यशस्तिलकचम्पू, कल्प ३६, श्लोक ७१६
मन्दं-मन्दं क्षिपेद् वायु, मन्दं-मन्द विनिक्षिपेत्।
न क्वचिद् वार्यते वायुर्न च शीघ्र प्रमुच्यते॥

५. वृहद् नयचक्र, श्लोक ३८८ ·
णिज्जियसासो णिप्फदलोयणो मुक्कसयलवावारो।
जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि सदेहो॥

६ यशस्तिलकचपू, कल्प ३६, श्लोक ६११।

श्वास-प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करने का कितना महत्त्व है, यह कायोत्सर्ग की विधि से जाना जा सकता है।

कायोत्सर्ग	श्वास-प्रश्वास परिमाण
सायंकालीन	सौ
प्रात.कालीन	पचास
पाक्षिक	तीन सौ
चातुर्मासिक	पांच सौ
वार्षिक	एक हजार आठ
चेष्टा	पचीस
अध्ययनकालीन (उद्देस, समुद्देस)	सत्ताईस
अध्ययनकालीन (अनुज्ञा, प्रस्थापना)	आठ
प्रायश्चित्त	सौ
नदी-संतरण	पचीस[1]

श्वास-प्रश्वास का कालमान (या लम्बाई) श्लोक के एक चरण के समान निर्दिष्ट है। एक चरण के चिन्तन में जितना समय लगता है उतना श्वास प्रश्वास का काल होता है।[2]

भद्रबाहु स्वामी ने 'महाप्राण' ध्यान की साधना की थी। उसमें दीर्घकालीन कायोत्सर्ग और श्वास की अत्यन्त सूक्ष्मता, आन्तरिक श्वास के निरोध की स्थिति होती है। इसीलिए इसे सूक्ष्म ध्यान कहा जाता है। ध्यान संवर योग भी कहा है। आचार्य पुष्पभूति के शिष्य पुष्यमित्र थे। आचार्य ने पुष्यमित्र को अपना सहायक नियुक्त कर सूक्ष्म ध्यान में प्रवेश किया। इस सूक्ष्म ध्यान को 'महाप्राण ध्यान' के समान कहा गया है। इसमें न चेतना-मन होती है, न चलन और न स्पन्दन। सूक्ष्म ध्यान की अवस्था में श्वास के निरोध की स्थिति भी मान्य रही है, किन्तु सामान्य [illegible] की स्थिति में श्वास को सहज करना ही मान्य रहा है। श्वास के

तेज करना मान्य नहीं रहा है। ध्यान की दृष्टि से उसकी उपयोगिता नहीं है। अहिंसा की दृष्टि से यह निर्देश प्राप्त है कि तेज श्वास से जीव-हिंसा होती है, इसलिए भस्त्रिका जैसै तीव्र श्वास वाले प्राणायाम नही करने चाहिए।

श्वास को सूक्ष्म, मन्द, विजित और नियन्त्रित करने के सूत्र उपलब्ध हैं, किन्तु श्वास-प्रेक्षा की अभ्यास-विधि प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध नही है। उसे आनापान स्मृति तथा श्वास-दर्शन की अभ्यास-पद्धतियों के आधार पर विकसित किया गया है। भाव-क्रिया के रूप में उसका सूत्र उपलब्ध था, किन्तु अभ्यास परम्परा के प्राप्त न होने के कारण, वह पकडा नही जा सका। श्वास के विषय मे भाव-क्रिया का अर्थ होगा कि हम श्वास लेते समय 'श्वास ले रहे हैं'—इसी का अनुभव करें, वही स्मृति रहे, मन किसी अन्य प्रवृत्तियो मे न जाए, वह श्वासमय हो जाए, उसके लिए समर्पित हो जाए, श्वास की भाव-क्रिया ही श्वासप्रेक्षा है। यह नासाग्र पर की जा सकती है, श्वास के पूरे गमनागमन पर भी की जा सकती है। श्वास के विभिन्न आयामो और विभिन्न रूपो को देखा जा सकता है।

२. कायोत्सर्ग

शरीर की चचलता, वाणी का प्रयोग और मन की क्रिया—इन सबको एक शब्द में योग कहा जाता है। ध्यान का अर्थ है—योग का निरोध। प्रवृत्तियां तीन हैं और तीनो का निरोध करना है। फलत ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते है—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह कायिक ध्यान ही कायोत्सर्ग है। इसे कायगुप्ति, काय-संवर, काय-विवेक, काय-व्युत्सर्ग और काय प्रतिसलीनता भी कहा जाता है।

कायोत्सर्ग मानसिक एकाग्रता की पहली शर्त है। यह अनेक प्रयोजनो से किया जाता है, प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का संतुलन रखने के लिए जो किया जाता है, उसे 'चेप्टा कायोत्सर्ग' कहते है। प्राप्त कप्टो को सहने तथा कष्टजनित भय को निरस्त करने के लिए 'अभिभव कायोत्सर्ग' किया जाता है।[1] क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशमन भी उसका एक प्रयोजन है।[2] वह स्वयं प्रायश्चित्त है। अमगल, विघ्न और वाधा के परिहार के लिए भी

१. कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३, ५।

२. कायोत्सर्ग शतक, गाथा ८।

उसका उपयोग किया जाता है। यात्रा के समय या अन्य किसी कार्यारम्भ के समय कोई अपशकुन या बाधा उपस्थित हो जाए तो आठ श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर, नमस्कार महामंत्र का चिन्तन करना चाहिए। दूसरी बार भी बाधा उपस्थित हो तो सोलह श्वास-प्रश्वास कायोत्सर्ग कर, दो बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। यदि तीसरी बार भी बाधा उपस्थित हो तो बत्तीस श्वास-प्रश्वास का कायोत्सर्ग कर चार बार नमस्कार महामन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। चौथी बार भी बाधा उपस्थित हो तो विघ्न को अवश्यंभावी मानकर यात्रा का कार्यारम्भ नहीं करना चाहिए।[१]

कायोत्सर्ग की अनेक उपलब्धियां है :

१. देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जडता नष्ट हो जाती है।
२. परमलाघव—शरीर बहुत हल्का हो जाता है।
३. मतिजाड्यशुद्धि—जागरूकता के कारण बुद्धि की जडता नष्ट हो जाती है।
४. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख को सहने की क्षमता बढ़ती है।
५. सुख-दुःख मध्यस्थता—सुख-दुःख के प्रति तटस्थ रहने का मनोभाव बढता है।
६. अनुप्रेक्षा—अनुचिन्तन के लिए स्थिरता प्राप्त होती है।
७. मन की एकाग्रता सधती है।[२]

---

३. शरीर-प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्त्व है। यह आत्मा का केन्द्र है। इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है। इसीलिए गौतम ने केशी से कहा था—यह शरीर नौका है। जीव नाविक है और संसार समुद्र है।[1] इस नौका के द्वारा संसार का पार पाया जा सकता है। शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर के तीन भाग हैं :

१. अधोभाग—आंख का गढा, गले का गढा, मुख के बीच के भाग।

२. ऊर्ध्वभाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।

३. तिर्यग् भाग—समतल भाग।

शरीर के अधोभाग में स्रोत हैं, ऊर्ध्वभाग में स्रोत है और मध्य भाग में स्रोत—नाभि हैं।

साधक चक्षु को संयत कर शरीर की विपश्यना करे। उसकी विपश्यना करने वाला उसके अधोभाग को जान लेता है, उसके ऊर्ध्व भाग को जान लेता है और उसके मध्य भाग को जान लेता है।[2]

जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुखः-दुख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

शरीर-दर्शन की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम-साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर है। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनो को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २३/७३ .
सरीर माहु नावत्ति, जीवो वुच्चई नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो॥

२. आयारो, २/१२५ ·
आयतचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भाग जाणइ, उड्ढ भाग जाणइ, तिरिय भाग जाणइ।

धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढता जाता है।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुख-रूप होता है और कोई क्षण दुःख-रूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नही करता और दुःखात्मक क्षण के प्रति द्वेष नही करता। वह केवल देखता और जानता है।[1]

शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर से भीतर पहुंचकर शरीर-धातुओ को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो (अन्तरों) को भी देखता है।[2]

देखने का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसका महत्त्व तभी अनुभूत होता है, जब मन की स्थिरता, दृढता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए। शरीर के प्रकम्पनो को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकम्पनो को देखना, मन को बाहर से भीतर मे ले जाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य जागृत होता है। शरीर का जितना आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है, उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण मे चैतन्य व्याप्त है। इसीलिए शरीर के प्रत्येक कण मे संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर मे होने वाले संवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।[3]

४. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा—'खणं जाणाहि पंडिए !' साधक तुम क्षण को जानो।[1] अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं और वासनाएं होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेषयुक्त चित्त का निर्माण करती है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेषशून्य वर्तमान क्षण ही संवर है। राग-द्वेषशून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।[2]

भगवान् महावीर ने कहा—'इस क्षण को जानो।'[3] वर्तमान को जानना और वर्तमान मे जीना ही भाव-क्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक मे उड़ान भरना द्रव्य क्रिया है। वह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भाव-क्रिया स्वय साधना और स्वयं ध्यान है। हम चलते है और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, 'हम चल रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भावक्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पाचों इन्द्रियो के विषयो पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठडी या गरम हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोडे। रस की स्मृति न करे।

---

१. आयारो, २/२४ ।

२. आयारो, ३/६०
णातीतमट्ठ ण य आगमिस्स, अट्ठ नियच्छति तहागया उ।
विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥

३ सूयगडो १/२/७३
इणमेव खण वियणाणि आ।

साधक चलते समय पांचो प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढ़ाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचिन्तन करे और न धर्म-चर्चा करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे। किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने मे ही केन्द्रित रहे, चेतना गति का पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।[1]

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भाव-क्रिया बन जाती है, जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमे व्याप्त होती है।[2]

भाव-क्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाएं, इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हो, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय मे न जाए, इस स्थिति मे क्रिया भाव-क्रिया बनती है।[3]

५. समता

आत्मा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है इसलिए वह परोक्ष है। चैतन्य उसका गुण है। उसका कार्य है—जानना और देखना। मन और शरीर के माध्यम से जानने और देखने की क्रिया होती है, इसलिए चैतन्य हमारे प्रत्यक्ष है। हम जानते है, देखते है, तब चैतन्य की क्रिया होती है। समग्र साधना का यही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करे। केवल जाने और केवल देखे। इस स्थिति मे अबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है, किन्तु मोह के द्वारा हमारा दर्शन निरुद्ध और ज्ञान आवृत रहता है, इसलिए हम केवल जानने और केवल देखने की स्थिति मे नहीं रहते। हम प्राय. संवेदन की स्थिति मे होते है। केवल जानना ज्ञान है।

प्रियता और अप्रियता के भाव से जानना संवेदन है। हम पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से नहीं देख पाते। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। वह केवल जानने और देखने से सिद्ध होती है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है। जिसे समता प्राप्त होती है, वही ज्ञानी होता है। जो ज्ञानी होता है, उसी को समता प्राप्त होती है। ज्ञानी और साम्ययोगी—दोनों एकार्थक होते हैं।

हम इन्द्रियों के द्वारा देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं, स्पर्श का अनुभव करते है तथा मन के द्वारा संकल्प-विकल्प या विचार करते हैं। प्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव राग उत्पन्न करते हैं और अप्रिय लगने वाले इन्द्रियविषय और मनोभाव द्वेष उत्पन्न करते हैं। जो प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयों और मनोभावों के प्रति सम होता है, उसके अन्त करण में वे प्रियता और अप्रियता का भाव उत्पन्न नहीं करते। प्रिय और अप्रिय तथा राग और द्वेष से परे वही हो सकता है, जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है। जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है, वही वीतराग होता है।

जैसे-जैसे हमारा जानने और देखने का अभ्यास बढता जाता है, वैसे-वैसे इन्द्रिय-विषय और मनोभाव, प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करना वन्द कर देते हैं। फलतः राग ओर द्वेष शान्त और क्षीण होने लगते हैं। हमारी जानने और देखने की शक्ति अधिक प्रस्फुट हो जाती है। मन मे कोई सकल्प उठे, उसे हम देखें। विचार का प्रवाह चल रहा हो उसे हम देखें। इसे देखने का अर्थ होता है कि हम अपने अस्तित्व को संकल्प से भिन्न देख लेते हैं। संकल्प दृश्य है और 'मैं द्रष्टा हूं'—इस भेद का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जव सकल्प के प्रवाह को देखते जाते है, तव धीमे-धीमे उसका प्रवाह रुक जाता है। सकल्प के प्रवाह को देखते-देखते हमारी दर्शन की शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरो के सकल्प-प्रवाह को भी देखने लग जाते है।

हमारी आत्मा में अखण्ड चैतन्य है। उसमे जानने-देखने की असीम शक्ति है, फिर भी हम वहुत सीमित जानते-देखते है। इसका कारण यह है कि हमारा ज्ञान आवृत है, हमारा दर्शन आवृत है। इस आवरण की सृष्टि मोह ने की है। मोह को राग और द्वेष का पोपण मिल रहा है—प्रियता

और अप्रियता के मनोभाव से। यदि हम जानने-देखने की शक्ति का विकास चाहते हैं तो हमें सबसे पहले प्रियता और अप्रियता के मनोभावों को छोड़ना होगा। उन्हें छोड़ने का जानने और देखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। हमारे भीतर जानने और देखने की जो शक्ति बची हुई है, हमारा चैतन्य जितना अनावृत है उसका हम उपयोग करें। केवल जानने और देखने का जितना अभ्यास कर सकें, करें। इससे प्रियता और अप्रियता के मनोभाव पर चोट होगी। उससे राग-द्वेष का चक्रव्यूह टूटेगा। उससे मोह की पकड़ कम होगी। फलस्वरूप ज्ञान और दर्शन का आवरण क्षीण होने लगेगा। इसलिए वीतराग-साधना का आधार जानना और देखना ही हो सकता है।[1] इसीलिए इस सूत्र की रचना हुई है कि समूचे ज्ञान का सार सामायिक है—समता है।

६. संयम–संकल्प-शक्ति का विकास

हमारे भीतर शक्ति का अनन्त कोष है। उस शक्ति का बहुत बड़ा भाग रुका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता में है और कुछ भाग उपयोग में आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हों तो सत्ता में रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते हैं।

शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मांगें होती हैं। हम उन मांगों को पूरा करते चले जाते हैं। फलतः हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है- मन की मांग का अस्वीकार। मन की मांग के अस्वीकार का अर्थ है- संकल्प-शक्ति का विकास। यही संयम है। जिसका निश्चय (संकल्प या संयम) दृढ़ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं होता।[2]

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय में परिवर्तन ला देते है। किन्तु मन का संकल्प उन सबसे बड़ा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है, उतना अन्य निमित्तों से नहीं हो सकता। जो अपने निश्चय में एकनिष्ठ होते हैं वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते हैं। गौतम ने पूछा—'भन्ते ! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?' भगवान् ने कहा—'संयम से जीव आस्रव का निरोध करता है।'[1] संयम का फल अनाश्रव है। जिसमें संयम की शक्ति विकसित हो जाती है, उसमें विजातीय द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता। संयमी मनुष्य बाहरी प्रभावों से प्रभावित नहीं होता। दशवैकालिक में कहा है—'काले कालं समायरे'—सब काम ठीक समय पर करो। सूत्रकृतांग में कहा है—'खाने के समय खाओ, सोने के समय सोयो। सब काम निश्चित समय पर करो। यदि आप नौ बजे ध्यान करते हैं और प्रतिदिन उस समय ध्यान ही करते हैं, मन की किसी अन्य मांग को स्वीकार नहीं करते तो आपकी संयमशक्ति प्रबल हो जाएगी।

संयम एक प्रकार का कुंभक है। कुंभक में जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही सयम में इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, बीमारी, गाली, मारपीट—इन सब घटनाओ को सहन करो। यह उपदेश नहीं है। यह संयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है, तब मन की मांग होती है कि गर्म कपड़ों का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है, तब मन ठंडे द्रव्यो की मांग करता है। संयम का प्रयोग करने वाला उस मांग की उपेक्षा करता है। मन की मांग को जान लेता है, देख लेता है, पर उसे पूरा नहीं करता। ऐसा करते-करते मन माग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है, वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें, अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग आपको विचलित नहीं करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन वचन और शरीर का संयम अपने आप सध जाता है।

संयम-शक्ति का विकास इस प्रक्रिया से किया जा सकता है—जो करना है या जो छोड़ना है, उसकी धारणा करो—उस पर मन को पूरी

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २६ सूत्र २६।

एकाग्रता के साथ केन्द्रित करो। निश्चय की भाषा में उसे बोलकर दोहराओ, फिर उच्चारण को मंद करते हुए उसे मानसिक स्तर पर ले आओ। उसके वाद ज्ञान-ततुओ और कर्मशील ज्ञान-तन्तुओ को कार्य करने का निर्देश दो। फिर ध्यानस्थ और तन्मय हो जाओ। इस प्रक्रिया के द्वारा हम शक्ति के उस स्रोत को उद्घाटित करने मे सफल हो जाते है, जहां सहने की क्षमता स्वाभाविक होती है।

७-८. अनुप्रेक्षा और भावना

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोडने वाले विषयो का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विपय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का वार-वार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।[1]

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमे ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओ का अभ्यास आवश्यक है—

१. **ज्ञान भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।
२. **दर्शन भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास।
३. **चारित्र भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।
४. **वैराग्य भावना**—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है। उसी रूप मे उसका सस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा

---

१. पासनाहचरिअ, पृ. ४६० :
भाविज्जइ वासिज्जइ, जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए।
सा भावण त्ति वुच्चइ, नाणाइगोयरा वहुहा॥

में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है।[1] अर्हम्' की भावना करने वाले में 'अर्हत्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओ से भावित होते है। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।[2]

भगवान् महावीर ने भावना को नौका के समान कहा है। नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दु·ख के पार पहुचा देती है।[3]

प्रतिपक्ष की भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह कर्म के विपाक पर प्रतिपक्ष भावना का निश्चित परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और संतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का संस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है और वह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोडी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चित परिणाम होता है।

साधनाकाल मे ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के वाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा मे जप, भावना और अनुप्रेक्षा—इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सवका प्रयोग आवश्यक है। ध्यान शतक मे वताया गया है कि ध्यान को समाप्त कर अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना चाहिए।[4] ध्यान मे होने वाले

---

१. समाधितत्र, श्लोक २८
सोहमित्यात्त सस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन·।
तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥

२ पासनाहचरिअं, पृ. ४३० .
जो जेण चित्र कुसलेणा, कम्मुण केणइ ह नियमेण।
भाविज्जइ सा तस्सेव, भावना धम्मसजणणी॥

३ सूयगडो, १५/५ ·
भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टति॥

४. ध्यानशतक, श्लोक ६५ ·
झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाईचितणोवरमो।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्वि॥

विविध अनुभवों में चित्त का कहीं लगाव न हो—इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का बहुत महत्त्व है। धर्म्यध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है :[1]

१. एकत्व अनुप्रेक्षा
२ अनित्य अनुप्रेक्षा
३. अशरण अनुप्रेक्षा
४. संसार अनुप्रेक्षा।

एकत्व अनुप्रेक्षा

आत्मा एक है और अनन्त है। ये दोनो सत्य स्वीकृत है। प्रत्येक आत्मा अपने आप मे अखण्ड और परिपूर्ण है। इस दृष्टि से आत्मा एक है। अपनी आत्मा से भिन्न अनन्त आत्माओ का अस्तित्व है, इसलिए आत्माएं अनन्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति अनन्त आत्माओ के मध्य जीता है, समुदाय के मध्य जीता है। यह सामुदायिक जीवन की अनुभूति ही राग और द्वेष उत्पन्न करती है। इसमे कोई सन्देह नही कि व्यक्ति विभिन्न प्रभावो से संक्रान्त होता है और उन प्रभावो से वह वच भी नही सकता और वह इसलिए नही वच सकता कि उन प्रभावो को सक्रियता से ग्रहण करता है। उनसे वचने का एक ही उपाय है और वह है अक्रियता की अवस्था का निर्माण। ध्यान से अक्रियता की अवस्था का निर्माण होता है। समुदाय मे रहते हुए अकेलेपन का अनुभव करने से भी इस अवस्था का निर्माण होता है। 'मै अकेला हू, शेप सव सयोग है।' संयोगो को अपना अस्तित्व मानना सक्रियता है। उन्हे अपने-अपने अस्तित्व से भिन्न देखना, अनुभव करना अक्रियता है। इस एकत्व अनुप्रेक्षा के लम्वे (छह मास के) अभ्यास से वाह्य पदार्थो के प्रति होने वाली अपनत्व की मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। यह विवेक या भेदज्ञान का प्रयोग है।

अनित्य अनुप्रेक्षा

शरीर के यथाभूत स्वभाव और उसकी क्रियाओं का निरीक्षण करने

---

१ ठाण, ४/६८।

वाला उसके भीतर होने वाले विभिन्न स्रावों को देखने लग जाता है।[1]

शरीर-दर्शन के अभ्यास से शरीर मे घटित होने वाली अवस्थाएं स्पष्ट होने लग जाती हैं। भगवान् महावीर ने कहा—'तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाए होती है।'[2] शरीर की अनित्यता के अनुचिन्तन से शरीर के प्रति होने वाली गहन आसक्ति से मुक्ति पायी जा सकती है। शरीर की आसक्ति ही सब आसक्तियो का मूल है। उसके टूट जाने पर अन्य पदार्थो में होने वाली आसक्तिया अपने आप टूटने लग जाती है।

अशरण अनुप्रेक्षा

जो अपने अस्तित्व को नहीं जानता, वह कहीं भी सुरक्षित नही हो सकता। धन, पदार्थ और परिवार—ये सब अस्तित्व से भिन्न है। जो भिन्न है, वह कभी भी त्राण नहीं दे सकता।[3]

भगवान् महावीर ने कहा—अशरण को शरण और शरण को अशरण मानने वाला भटक जाता है। अपनी सुरक्षा अपने अस्तित्व मे है। स्वयं की शरण मे आना ही अशरण अनुप्रेक्षा का मूल मर्म है।

संसार अनुप्रेक्षा

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नही है। जिसका अस्तित्व है, जो ध्रुव है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट होता है। यह उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहता है।

१ आयारो, २/१३० :
अंतो अतो देहतराणि पासति पुढोवि सवताइ।

२ आयारो, ५/२६ :
से पुव्व पेयं पच्छा पेय भेउरधम्म, विद्धसणधम्म, अधुवं अणितिय, असासय, चयावचइय, विपरिणामधम्मं, पासह एय रुव।

३. आयारो, २/८ :
नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा। तुमं पि तेसि नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

इसी क्रम का नाम संसार है। परमाणु-स्कंध परिवर्तित होते रहते है। एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था में चले जाते है। जीव भी बदलते रहते है। वे कभी जन्म लेते है और कभी मरते हैं। वे कभी मनुष्य होते है और कभी पशु। एक जीवन में भी अनेक अवस्थाए होती है। इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिन्तन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो उपयोग हैं—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप में हमें उपलब्ध नही है, इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत्त है। उस पर एक परदा पडा हुआ है। उसे दर्शनावरण और ज्ञानावरण कहा जाता है। वह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नही है और केवल देखते नही है। जानने-देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव वनता है। वह राग या द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेप मोह को उत्पन्न करते हैं। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। उस चक्र को तोड़ने का एक ही उपाय है और वह है ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा मे चला जाता है। कुछ लोग मूर्च्छा को तोडने मे स्वयं जागृत हो जाते है। जो स्वय जागृत नही होते उन्हे श्रद्धा के वल पर जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान् महावीर ने कहा—'हे अद्रष्टा ! तुम्हारा दर्शन तुम्हारे ही मोह के द्वारा निरुद्ध है, इसलिए तुम सत्य को नही देख पा रहे हो। तुम सत्य को नही देख पा रहे हो, इसलिए तुम उस पर श्रद्धा करो, जो द्रष्टा द्वारा तुम्हे वताया जा रहा है।'[1] अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त वोध है। उसका कार्य है—अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण।

---

१. सूयगडो, १/२/६५ ·
अदक्खुव ! दक्खुवाहियं, सद्दहसू अदक्खुदसणा !
हंदि हु सुणिरुद्धदसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा॥

६. एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूक भाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता वढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूक भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उपयोग—केवल जानना और देखना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लंबे समय तक निरन्तर चले। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए, चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकम्प हो जाए। अनुवस्थित, अव्यक्त और मृदुचित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नहीं कर सकता।[१] पचास मिनट तक एक आलंबन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए।[२] यह सफलता का बहुत बडा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लबे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप में पकडकर उसे और प्रलंब बना देता है।

---

१. कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३४ ·
गाढालवणलग्ग, चित्त वुत्त निरेअण झाण।
सेसं न होई झाण, मउअमवत्त भमत च॥

२ ध्यानशतक, गाथा ३ ·
अतोमुहुत्तमेत्त चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।

३

अभ्यासक्रम

: १ :

अभ्यास का परिपूर्ण क्रम

प्रथम भूमिका

कायोत्सर्ग

प्रथम आरोह	सुप्त कायोत्सर्ग
द्वितीय आरोह	स्थित कायोत्सर्ग
तृतीय आरोह	उत्थित कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया

१. पहले खिचाव, फिर शिथिलीकरण।

२. सिर से पैर तक शिथिलता का संकल्प।

३. चिंतन और ममत्व का विजर्सन।

४. प्राण का दीर्घीकरण व सूक्ष्मीकरण।

कायोत्सर्ग मे शारीरिक वृत्तियो के शिथिल होने पर भेदज्ञान का अनुभव—शरीर से आत्मा को पृथक् अनुभव करना चाहिए।

द्वितीय भूमिका

जप

प्रथम आरोह	वाचिक जप	दीर्घोच्चारण
द्वितीय आरोह	उपांशु जप	सूक्ष्मोच्चारण
तृतीय आरोह	मानसिक जप	अनुच्चारण

६. एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूक भाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता बढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूक भाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उपयोग--केवल जानना और देखना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लंबे समय तक निरन्तर चले। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आए, चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकम्प हो जाए। अनुवस्थित, अव्यक्त और मृदुचित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नहीं कर सकता।[१] पचास मिनट तक एक आलंबन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए।[२] यह सफलता का बहुत बडा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लंबे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप मे पकडकर उसे और प्रलंब बना देता है।

---

१. कायोत्सर्ग शतक, गाथा ३४ :
गाढालवणलग्ग, चित्त वुत्त निरेअण झाण।
सेस न होई झाण, मउअमवत्त भमत च॥

२ ध्यानशतक, गाथा ३ .
अंतोमुहुत्तमेत्त चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।

३

अभ्यासक्रम

: १ :

अभ्यास का परिपूर्ण क्रम

प्रथम भूमिका

कायोत्सर्ग

प्रथम आरोह	सुप्त कायोत्सर्ग
द्वितीय आरोह	स्थित कायोत्सर्ग
तृतीय आरोह	उत्थित कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया

१. पहले खिंचाव, फिर शिथिलीकरण।
२. सिर से पैर तक शिथिलता का संकल्प।
३. चिंतन और ममत्व का विजर्सन।
४. प्राण का दीर्घीकरण व सूक्ष्मीकरण।

कायोत्सर्ग में शारीरिक वृत्तियो के शिथिल होने पर भेदज्ञान का अनुभव—शरीर से आत्मा को पृथक् अनुभव करना चाहिए।

द्वितीय भूमिका

जप

प्रथम आरोह	वाचिक जप	दीर्घोच्चारण
द्वितीय आरोह	उपांशु जप	सूक्ष्मोच्चारण
तृतीय आरोह	मानसिक जप	अनुच्चारण

तृतीय भूमिका

प्राणायाम

प्रथम आरोह—एक सप्ताह तक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
द्वितीय आरोह—द्वितीय सप्ताह सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
तृतीय आरोह—तृतीय सप्ताह मूलबन्ध सहित सकुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
चतुर्थ आरोह—चतुर्थ सप्ताह समूलबन्ध कुम्भक अनुलोम-विलोम प्राणायाम।
पंचम आरोह—पंचम सप्ताह केवल कुम्भक।

चतुर्थ भूमिका

भावना

प्रथम आरोह —मैत्री भावना का चितन और अभ्यास।
द्वितीय आरोह—प्रमोद भावना का चिंतन और अभ्यास।
तृतीय आरोह—कारुण्य भावना का चिंतन और अभ्यास।
चतुर्थ आरोह—माध्यस्थ भावना का चिंतन और अभ्यास।

पंचम भूमिका

ध्यान

प्रथम आरोह—पिण्डस्थ ध्यान।
द्वितीय आरोह—पदस्थ ध्यान।
तृतीय आरोह—रूपस्थ ध्यान।
चतुर्थ आरोह—रूपातीत ध्यान।

इस समूचे क्रम को ८० मिनट मे सम्पन्न किया जा सकता है। प्रारम्भ मे एक-एक भूमिका का ही अभ्यास करना चाहिए। सव भूमिकाओं का स्थिर अभ्यास हो जाने पर सवका एक साथ प्रयोग किया जा सकता है।

: २ :

चित्त लय का सहज अभ्यास

यदि आप आसन, प्राणायाम आदि की साधना मे ध्यान देना नहीं

चाहते है और लम्बी प्रक्रिया आपको जटिल प्रतीत होती है, आप सहज सरल ध्यान करने के पक्ष मे है तो वह भी सम्भव हो सकता है। जिस किसी भी आसन मे बैठकर ध्यान कर सकते है। केवल इतना ही ध्यान रखना होगा कि शरीर सीधा रहे तथा रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। फिर आप ध्यान की पद्धति को चुन लें, जो नीचे बतायी जा रही हैं :

१. नथुनों से श्वास भरकर उसे मस्तिष्क में ले जाइए। वहां कुछ समय के लिए उसे धारण कीजिए। सहज ही संकल्प-विकल्प विलीन हो जाएंगे। इससे धातु-क्षयजनित बीमारियां भी नष्ट होती है।

२. जीभ को तालु में लगाकर बैठ जाइए। सहज ही मन शान्त हो जाएगा। किन्तु इसका अभ्यास ठडे समय मे ही किया जाना चाहिए।

३. एकान्त में शिथिलीकरणपूर्वक लेटकर अपने दाये पैर के अंगूठे पर दृष्टि स्थिर कीजिए। मन को वहीं एकाग्र कीजिए। यह चित्त लय का सहज उपाय है।

४ स्थिर और सीधे बैठकर, लेटकर या खडे होकर मन को दोनों नथुनो के नीचे ले जाइए। वहां श्वास जो भीतर जा रहा है और भीतर से वापस बाहर आ रहा है, उसे देखिए। श्वास के इस गम और निर्गम पर मन को लगाने से वह शान्त हो जाता है।

इनके अतिरिक्त चित्त लय की कुछ पद्धतियां ४/२६ की व्याख्या मे निर्दिष्ट हैं। उनमे से भी आप अपनी सुविधा के अनुसार चुनाव कर सकते हैं।

: ३ :

भेदज्ञान का अभ्यास

यदि मन को एकाग्र करना कठिन हो, ध्यान आपको सभव नहीं लग रहा हो तो आप सबसे पहले भेद-ज्ञान का अभ्यास कीजिए। आत्मा और शरीर का भेदज्ञान पुष्ट होने पर मन की चंचलता सहज ही विलीन हो जाती है। आप स्थिर और शान्त होकर इस प्रकार की भावना कीजिए

कि शरीर मलिन है और इस शरीर मे विराजमान आत्मा निर्मल है। शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। जिस प्रकार पानी में गिरा हुआ तेल पानी से पृथक् रहता है उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहती हुई शरीर से पृथक् रहती है। मथन के द्वारा दधि से घृत को अलग किया जा सकता है। वैसे ही शरीर से आत्मा को पृथक् किया जा सकता है। पुष्प और उसकी सुगन्ध, वृक्ष और उसकी छाया मे जो स्थूल और सूक्ष्म का सम्वन्ध है, वही सम्बन्ध देह और आत्मा में है—

साकारं नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते।
पक्षद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः॥
अत्यन्तमलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः।
देहादेनं पृथक् कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत्॥
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति।
तथा शरीरमध्येऽस्मिन् पुमानास्ते पृथक्तया॥
दध्नः सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः।
पृथक् क्रियते तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि॥
पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले।
तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद् वा लपनबिम्ववत्॥

जो साधक कायोत्सर्ग मुद्रा में देह का पूर्णतः शिथिलीकरण कर भेदज्ञान की भावना करता है, वह शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के स्वास्थ्य, अनासक्ति तथा मानसिक एकाग्रता को प्राप्त करता है।

: ४ :

ॐकार के ध्यान का अभ्यास

स्थिर और शान्त होकर बैठ जाइए। फिर नासिका के अग्र भाग पर 'ॐ' का ध्यान कीजिए। चित्त को भृकुटि के मध्य में (आज्ञाचक्र पर) स्थापित कीजिए। यह ध्यान का सहज-सरल उपाय है। इससे आन्तरिक ज्ञान विकसित होता है, अन्तर्मन जागृत होता है।

४

मर्मस्थान

योग विद्या मे जिनकी संज्ञा चक्र है, प्रेक्षाध्यान में जिनकी संज्ञा चैतन्य केन्द्र है, आधुनिक शरीरशास्त्र मे जिनकी संज्ञा अंतःस्रावी ग्रन्थि है, वे सब मर्मस्थान है। उनमें चेतना सघन रूप में रहती है।

	चक्र	चैतन्य-केन्द्र	ग्रन्थि-तंत्र	स्थान
१.	सहस्रार चक्र	ज्ञान केन्द्र, ज्योति केन्द्र	कोर्टेक्स पिनिअल ग्लैण्ड	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान) व मस्तिष्क का मध्य भाग
२.	आज्ञा-चक्र	दर्शन केन्द्र	पिच्यूटरी ग्लैण्ड	भृकुटियो के मध्य का भाग
३.	विशुद्धि चक्र	विशुद्धि केन्द्र	थाइराइड, पेराथाइराइड ग्लैण्ड	कण्ठ के मध्य का भाग
४.	अनाहत चक्र	आनन्द केन्द्र	थाइमस ग्लैण्ड	हृदय के पास गड्ढे का स्थान
५.	मणिपुर चक्र	तैजस केन्द्र	एड्रेनल ग्लैण्ड	नाभि का स्थान
६.	स्वाधिष्ठान चक्र	स्वास्थ्य केन्द्र	गोनाड्स ग्लैण्ड	पेडू का स्थान
७.	मूलाधार चक्र	शक्ति केन्द्र	गोनाड्स ग्लैण्ड	पृष्ठ-रज्जु के नीचे का छोर

ओकल्ट साइन्स में इनका निरूपण प्रकारान्तर से भी मिलता है—

१. सैक्रोकोक्सीजियल प्लैक्सस (The Sacrococcygeal Plexus) मूला धार चक्र।

२. सैक्रल प्लैक्सस (The Sacral Plexus) : स्वाधिष्ठान चक्र।

३. सोलर प्लैक्सस (The Solar Plexus) : मणिपुर चक्र (वाम भाग)।

४. सैरेब्रो-स्पाइनल प्लैक्सस (The Serebro-Spinal Plexus) : मणिपुर चक्र (दक्षिण भाग)।

ये दोनों क्रमशः इडा और पिंगला नामक नाड़ियो के संचालक हैं। इड़ा केन्द्रीय सुषुम्ना के बायीं ओर है तथा पिगला दायीं ओर।

५. लम्बर प्लैक्सस (The Lumbar Plexus) : अनाहत चक्र।

६. लैरिञ्जियल प्लैक्सस (The Laryngeal Plexus) : विशुद्धि चक्र।

७. सैरेबलम प्लैक्सस (The Cerabellum Plexus) : आज्ञा चक्र। इनकी दो पंखुड़ियां है।

८. सैंसोरियम (Sensorium) : मानस चक्र। इसकी छह पंखुडियां है।

९. मिडिल सैरेब्रम (Middle Cerebrum) : सोम चक्र।

१०. अपर सैरेब्रम Upper Cerebrum) : सहस्रार चक्र।

११. साधना की दृष्टि से तीन नाडियां मुख्य हैं :

१. इड़ा

२. पिंगला

३. सुषुम्ना।

इनका मूल मूलाधार चक्र है। सुषुम्ना नाडी मेरुदण्ड के मध्य में है। वह मूलाधार से सहस्रार चक्र तक फैली हुई है। वह चैतन्य का शक्ति केन्द्र है। उसके दोनों ओर इडा और पिंगला हैं। इड़ा वाये अण्डकोश से और पिगला दाये अण्डकोश से प्रारम्भ होती है। स्वाधिप्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्धि चक्र में इनका संगम होता है। पिगला विशुद्धि चक्र से ऊपर उठकर भूमध्य को वेप्टित करती हुई दायी नासिका तक चली जाती है। आज्ञाचक्र पर सुपुम्ना, डडा और पिगला का सगम होता है।

वीर-वन्दन

विधि

१. दोनों पैरो को सटाकर, सीधा खडा होकर, पेट को अन्दर खीचकर और छाती को फुलाकर, दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम की स्थिति में रहें।

२ दोनो हाथों को सिर से सटाकर ऊपर उठाए और कुछ पीछे की ओर ले जाएं। सांस को अन्दर रोककर रखे।

३. दोनों हाथों को सिर के साथ छोडते हुए पैरो के बगल मे हथेलियो को जमीन पर रखें। घुटने सीधे रखकर मस्तक को घुटनों से लगाए।

४. वाये पैर को पीछे सीधा करे, दाहिने पैर को मोडते हुए ऊपर की ओर देखे और सांस को रोककर रखे—कुंभक करे।

५. दाहिने पैर को भी पीछे की ओर लेकर नाभि की ओर देखें।

६ समूचे शरीर को पेट और छाती के बल जमीन पर रखें।

७. दोनो हाथो को जमीन पर हथेलियो के बल रखकर छाती को ऊपर उठाते हुए ऊपर की ओर देखे। सास को अन्दर रोककर रखे (भुजगासन की मुद्रा)।

८. दोनो हाथो तथा पैरो को जमीन पर रखकर सास छोडते हुए नाभि को देखे (पाचवी स्थिति की तरह)।

६. वाये पैर को हाथ के निकट ले जाकर छाती को ऊपर उठाए और ऊपर की ओर देखें (चौथी स्थिति की तरह)।

१०. दोनो पैरों को दोनो हाथों के निकट ले जाकर बैठकर उठते हुए घुटनो मे सिर लगाकर रखे।

११. दोनो हाथो को सिर के साथ ऊपर ले जाए (दूसरी स्थिति की तरह)।

१२. प्रथम स्थिति की तरह प्रणाम करते हुए खड़े हो जाएं।

५

शब्दकोश

सामान्य शब्द

अकषाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति का अभाव।

अगार—घर।

अतीन्द्रिय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाला ज्ञान—प्रत्यक्ष ज्ञान।

अनर्ह—अयोग्य।

अनलस—पुरुषार्थी।

अनिन्द्रिय—मन।

अनिवेशन—अस्थापन।

अनृत—असत्य।

अन्तःकुम्भक—श्वास को अन्दर खींचकर रोकना।

अन्यत्व—भिन्नता।

अपनयन—दूर करना।

अपरिहार्य—जिसे टाला न जा सके।

अपान—श्वास छोडना।

अपानायाम—अपानवायु को शुद्ध करने की प्रक्रिया।

अप्रमत्त—आत्माभिमुख।

अप्रमाद—आत्माभिमुखता।

अप्रशस्त—खराव, वुरा।

अयोग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध।

अवग्रह—रहने का स्थान।

अविरति—पदार्थ के प्रति आकांक्षा।

अविसवादित्व—कथनी और करनी की एकरूपता।

अशन—भोजन।

अशरण—असहाय।

अशौच—अपवित्र।

आकिंचन्य—निर्ममत्व।

आत्मा—जीव।

आत्मौपम्य—आत्मतुल्य।

आदान—उठाना, ग्रहण करना।

आनापान—श्वास, प्रश्वास।

आर्जव—माया का निरोध।

आवरण—आच्छादन।

आशय—विचार।

आश्रव—कर्म-बन्धन का हेतु।

आहरण—भोजन करना।

आहित—स्थापित।

इन्द्रिय—प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाला।

उन्नयन—ऊपर ले जाना।

उपधि—वस्त्र-पात्र आदि उपकरण।

उपरोध—दूसरों के स्वत्व का हरण।

उपलब्धि—प्राप्ति।

उपवास—भोजन का त्याग करना।

उपशम—शान्ति।

उपसर्ग—उपद्रव।

उपाश्रय—धर्मस्थान।

ऊनोदरिका—खान-पान मे कमी करना।

ऊर्ध्वरेता—जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी हो।

ऊर्ध्वस्थान—खड़े होकर किए जाने वाले आसन।

एकत्व—एकाकीपन।

एकाग्रसन्निवेशन—एक लक्ष्य में स्थापन।

कषाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति।
कायोत्सर्ग—शारीरिक प्रवृत्ति का विसर्जन।
कारुण्य—दया।
किट्ट—मलमूत्र।
कुम्भक—श्वास का रेचन।
क्षमा—क्रोध का निग्रह।
क्षुत्—भूख।
गण—संघ।
गुप्ति—गोपन करना।
घ्राण—गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय।
चक्षु—रूपग्राहक इन्द्रिय।
चतुष्क—चौराहा।
चन्द्रनाड़ी—बाया स्वर।
चाप—दबाव।
चेतनावान—चैतन्यधर्मा।
जिनकल्प—साधना की एक विशेष पद्धति।
जिह्वाग्र—जीभ का अग्रभाग।
ज्ञान—विशेष या विश्लेषणात्मक बोध।
तप—सचित कर्मो के शोधन का पराक्रम।
तीर्थकर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थो के स्थापक।
त्याग—विसर्जन, सविभाग।
त्रैकालिक—भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों में होने वाला।
त्वक्—त्वचा।
दर्शन—सामान्य बोध।
द्रव्य—पदार्थ।
धर्म—आत्मशुद्धि का साधन।
धारणा—ध्येय मे चित्त को सन्निविष्ट करना।
ध्याता—ध्यान का अधिकारी।
नाद—ध्वनि।

नासाग्र—नासिका का अग्रभाग।

निक्षेप—रखना।

निरभिष्वंग—निर्लेप।

निरालम्बन—आलम्बन-रहित।

निरुद्ध—आत्मपरिणत।

निरोध—रोकना।

निर्जरा—आत्मा की उज्ज्वलता।

निर्विचार—विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत।

निवृत्ति—निवर्तन करना।

निषीदनस्थान—बैठकर किए जाने वाले आसन।

निस्संगत्व—निर्लेपता—अनासक्त भाव।

पङ्क—कीचड।

पद—शब्द।

पदस्थध्यान—शब्द के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

परावर्तन—स्मरण।

परीषह—कष्ट।

पर्याय—समानार्थक।

पार्थिव—पृथ्वी से सम्बन्धित।

पार्ष्णि—एड़ी।

पिण्ड—शरीर।

पिण्डस्थ ध्यान—शरीर के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

पूरक—श्वास को अन्दर खीचना।

पृष्ठान्त—पीठ का अन्त्य भाग।

प्रणीतरस—अतिमात्र, गरिष्ठ।

प्रतिमा—कायोत्सर्ग की विशेष विधि।

प्रतिलेखन—देखना।

प्रतिसंलीनता—अन्तर्मुखता।

प्रमाद—आत्मविमुखता, विस्मृति।

प्रमार्जन—साफ करना।

प्रमोद—दूसरो के गुणों के प्रति प्रसन्नता का भाव।

प्रशस्त—अच्छा।

प्राण—जीवनी-शक्ति, श्वास।

जो श्वास-प्रश्वास लिया जाता है, वह स्थूल प्राण है और जिस शक्ति के द्वारा वह संचालित होता है, वह सूक्ष्म प्राण है।

प्राणायाम—श्वास का रेचन, पूरक और निरोध।

बन्ध—स्नायुओं का संकोचन।

बहिःकुम्भक—श्वास का रेचन कर उसे बाहर रोकना।

बाह्य—आत्मा से अतिरिक्त।

बोधिदुर्लभता—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र की दुर्लभता।

ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रिय, इन्द्रिय समूह और मन की शान्ति।

ब्रह्मरन्ध्र—सहस्रार चक्र।

भक्तपान—भोजन-पानी।

भव—ससार।

भस्म—राख।

भावना—विशिष्ट संस्कारों का आधान।

भेदज्ञान—आत्मा और शरीर की भिन्नता का वोध।

मध्यस्थता—उदासीनता, निष्पक्षता।

मन—मननात्मक बोध।

मनोनुशासन—मन का शिक्षण, अनुशासन।

मार्दव—किसी का अनादर न करना।

मित—परिमित।

मिथ्यादृष्टि—स्वरूप के प्रति अनास्था।

मुमुक्षु—मुक्त होने की इच्छा रखने वाला।

मूढ़—मोह से परिव्याप्त।

मैत्री—आत्मीय भाव

मौन—वाणी का संवरण।

यातायात—कभी अन्तर्मुखी और कभी वहिर्मुखी होने वाला।

योग—समाधि, प्रवृत्ति।

रसन—रस-ग्राहक इन्द्रिय।

संयम—हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत होना।

संरोहण—मिलना।

संवर—सवरण करना, कर्म-निरोध का हेतु।

संस्थान—आकृति।

सत्य—शरीर, वाणी और मन की ऋजुता।

सत्यपरत्व—सत्य-परायणता।

समिति—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति।

सम्यग्‌दृष्टि—सत्यस्पर्शी दृष्टि।

सर्वार्थग्राही—इन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषयों को ग्रहण करने वाला।

साचिव्य—सान्निध्य।

सात्त्विक—सत्त्वगुणयुक्त।

सापेक्ष—अपेक्षा रखने वाला।

सालम्बन—आलम्बन सहित।

सुलीन—सुस्थिर।

सूर्यनाडी—दायां स्वर।

स्कन्ध—समूह।

स्तेय—चोरी।

स्थान—आसन।

स्पर्शन—स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय।

स्वाध्याय—आत्मा के विषय में चिंतन।

हिंसा—प्राण-वियोजन, असत्प्रवृत्ति।

विशेष शब्द

अश्विनीमुद्रा—अश्व की भाति गुदा के संकोचन और विकोचन को 'अश्विनीमुद्रा' कहा जाता है।

कपालभाति—

यह रेचन-प्रधान प्राणायाम है। इसकी क्रिया करते समय कण्ठ पर ध्यान केन्द्रित होता है और कण्ठदेश में एक विशेप प्रकार की ध्वनि होती है। यह दस मिनट तक किया जा सकता है।

कुण्डलिनी—

नाभि मूल के निकट स्वाधिष्ठान चक्र और मणिपूर चक्र के मध्य में एक कुण्डलाकार सर्पिणी जैसी सूक्ष्म शक्ति है. इसे कुण्डलिनी कहा गया है। इसका ध्यान बादल के बीच कौंधती हुई विद्युत् रेखा के आकार में भी किया जा सकता है। मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के स्थिर अभ्यास से यह जागृत होती है। कुछ ग्रन्थों में इसे कमलतन्तु के समान सूक्ष्म रूपावली प्राणशक्ति कहा गया है। जैन साहित्य में तेजोलब्धि का जो वर्णन है, वह कुण्डलिनी के वर्णन जैसा ही प्रतीत होता है।

भस्त्रिका—

दोनों नथुनों से धौंकनी की भांति शब्द करते हुए श्वास लेना और छोडना भस्त्रिका प्राणायाम है।

समवृत्ति प्राणायाम—

एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे नथुने से उसे छोड़ना समवृत्ति प्राणायाम है।

सर्वेन्द्रिय संयममुद्रा—

दोनों अंगूठे कानो में स्थापित हैं। दोनों तर्जनियां मुंदी हुई आंखों को धीमे से दबाए हुए हैं और उनके अग्रभाग आख और नाक के मध्यवती देश पर कुछ अधिक दबाव डाले हुए है। दोनों मध्यमाएं दोनों नथुनों को बन्द किए हुए है। दोनों अनामिकाएं ऊपर के होंठ पर तथा दोनों कनिष्ठाएं नीचे के होंठ पर टिकी हुई है। वस यही है—सर्वेन्द्रियसंयममुद्रा।

६

मनोनुशासनम्-सूत्र

पहला प्रकरण

१. अथ मनोनुशासनम्॥
२. इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः॥
३. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि इन्द्रियाणि॥
४. आत्ममात्रापेक्षं अतीन्द्रियम्॥
५. चेतनावद् द्रव्यं आत्मा॥
६. ज्ञानदर्शन-सहजानन्द-सत्य-वीर्याणि तत्स्वरूपम्॥
७. परमाणुसमुदयैस्तदावरणविकरणे॥
८. तत्संसर्गाऽसंसर्गाभ्यां आत्मा द्विविधः॥
९. बद्धो मुक्तश्च॥
१०. स्वरूपोपलब्धिर्मुक्तिः॥
११. मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योग॥
१२. संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्ति इति पर्यायाः॥
१३. शोधनं च॥
१४. समितिः सत्प्रवृत्तिर्विशुद्धि इति पर्यायाः॥
१५. पूर्व शोधन, ततो निरोधः॥
१६. हित-मित-सात्त्विकाहरणं आहारशुद्धिः॥
१७. स्वविपयान् प्रति सम्यग्योग इन्द्रियशुद्धिः॥
१८. प्रतिसंलीनता च॥
१९. प्राणायाम-समदीर्घश्वास-कायोत्सर्गै आनापानशुद्धि॥

२०. कायोत्सर्गाद्यासन-बन्ध व्यायाम-प्राणायामैः कायशुद्धिः ॥

२१. निस्संगत्वेन च ॥

२२. प्रलम्बनादाभ्यासेन वाक्शुद्धिः ॥

२३. सत्यपरत्वेन च ॥

२४. दृढ़संकल्पैकाग्रसन्निवेशनाभ्या मनः शुद्धिः ॥

२५. मिथ्यादृष्टिरविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धाकर्षणहेतवः ॥

२६. सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतवः ॥

२७ इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणि आत्मनो लिंगम् ।

दूसरा प्रकरण

१. मूढ-विक्षिप्त-यातायात-श्लिष्ट-सुलीन-निरुद्धभेदाद् मनः षोढा ॥

२. दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्तं मूढम् ॥

३. अनर्हमेतद् योगाय ॥

४. इतस्ततो विचरणशील विक्षिप्तम् ॥

५. कदाचिदन्तः कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम् ॥

६. प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ॥

७. विकल्पपूर्वकं बाह्य वस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्य अल्पानन्दञ्च ॥

८. स्थिर श्लिष्टम् ॥

९. सुस्थिरं सुलीनम् ॥

१०. द्वयमिदं संजाताभ्यासस्य योगिनः ॥

११. बाह्य वस्तुन अग्रहणाद् दृढस्थैर्य महानन्दञ्च ॥

१२. मनोगतध्येयमेवास्य विषय. ॥

१३. निरालम्बनं केवलमात्मपरिणतं निरुद्धम् ॥

१४. इदं वीतरागस्य ॥

१५. सहजानन्दप्रादुर्भावः ॥

१६. ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥

१७. श्रद्धाप्रकर्षेण ॥

१८. शिथिलीकरणेन ॥

१९. संकल्पनिरोधेन ॥

२०. ध्यानेन च॥
२१. गुरूपदेश-प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः॥

तीसरा प्रकरण

१. एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्॥
२. ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम्॥
३. अल्पाहार ऊनोदरिका॥
४. दुग्धादिरसानां परिहरणं रसपरित्यागः॥
५. अशनत्याग उपवासः॥
६. शरीरस्य स्थिरत्वापादनं स्थानम्॥
७. ऊर्ध्व-निषीदन-शयनभेदात् त्रिधा॥
८. समपाद-एकपाद गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम्॥
६. गोदोहिका-उत्कटुक-समपादपुता-गोनिषद्यिका-हस्तिशुण्डिका-पद्म-वीरसुख-कुक्कुट-सिद्ध-भद्र-वज्र-मत्स्येन्द्र पश्चिमोत्तान-महामुद्रा-संप्रसारण-भूनमन-कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम्॥
१०. दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व-ऊर्ध्वशयन-लकुट-मत्स्य-पवनमुक्त-भुजंग-धनुरादीनि शयनस्थानम्॥
११. सर्वांग-शीर्षादीनि-विपरीतक्रियापादकानि॥
१२. वाचां संवरणं मौनम्॥
१३. इन्द्रिय-कषायनिग्रहो विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता॥
१४. इन्द्रियाणा विषय-प्रचारनिरोधो विषय-प्राप्तेपु अर्थेपु राग-द्वेष-निग्रहश्च इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता॥
१५. क्रोधादीनां उदय-निरोधस्तेषामुदयप्राप्ताना च विफलीकरणं कषायप्रतिसंलीनता॥
१६. ऐकाग्र्योपघातक-तत्त्व-रहितेपु स्थानेपु निवसनं विविक्तवासः॥
१७. आत्मान प्रत्यनुप्रेक्षा स्वाध्यायः॥
१८. चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसंस्काराधानं भावना।
१६. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आस्रव-सवर-

निर्जरा-धर्म-लोकसंस्थान-बोधिदुर्लभताः ॥

२०. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-मध्यस्थताश्च ॥

२१. उपशमादिदृढ़भावनया क्रोधादीना जयः ॥

२२. शरीर-गण-उपधि-भक्तपान-कषायाणां विसर्जनं व्युत्सर्गः ॥

२३. ध्यानाय शरीर-व्युत्सर्गः ॥

२४. विशिष्टसाधनायै गण-व्युत्सर्गः ॥

२५. लाघवाय उपधि-व्युत्सर्गः ॥

२६. ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्गः ॥

२७. सहजानन्दलब्धये कषाय-व्युत्सर्ग ॥

चौथा प्रकरण

१. स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता ॥

२ आरोग्यवान् दृढ़संहननो विनीतोऽकृतकलो रसाप्रतिबद्धोऽप्रमत्तोऽनलसश्च ॥

३. मुमुक्षु. सवृतश्च ॥

४. स्थिराशयत्वमस्य ॥

५. ईषदवनतकायो निमीलितनयनो गुप्तसर्वेन्द्रियग्राम. सुप्रणिहितगात्रः प्रलम्बितभुजदण्ड सुश्लिष्टचरणः पूर्वोत्तराभिमुखो ध्यायेत् ॥

६. पद्मासनादिषु निषण्णो वा ॥

७. ग्रामागार-शून्यगृह-श्मशान-गुहोपवन-पर्वत-तरुमूल-पुलिनानि ध्यानस्थलानि ॥

८. भूपीठ-शिलाकाष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि ॥

६ सालम्बन-निरालम्बनभेदाद् ध्यानं द्विधा ॥

१०. पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ रूपातीतभेदादाद्यं चतुर्धा ॥

११. शारीरालम्बि पिण्डस्थम् ॥

१२. शिरो-भ्रू-तालु-मुख-नयन-श्रवण-नासाग्र-हृदय-नाभ्यादि शारीरालम्वनानि ॥

१३. धारणालम्वनं च ॥

१४. प्रेक्षा वा ॥

१५. ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धो धारणा॥

१६. पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा॥

१७. स्वाधारभूतानां स्थानानां बृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्शः॥

१८. तत्रस्थस्य निजात्मनः सर्वसामर्थ्योद्भावनं पार्थिवी॥

१९. नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेषदोषदाहचिन्तनमाग्नेयी॥

२०. दग्धमलापनयनाय चिन्तनं मारुती॥

२१. महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तनं वारुणी॥

२२. श्रौतालम्बि पदस्थम्॥

२३. संस्थानालम्बि रूपस्थम्॥

२४. सर्वमलापगतज्योतिर्मयात्मालम्बि रूपातीतम्॥

२५. तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायाद् वैलक्षण्यम् ॥

२६. निर्विचारं निरालम्बनम्॥

२७. शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः॥

२८. विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा॥

२९. संतुलनं वा॥

३०. रागद्वेषाभावे चित्तस्य समत्वं सन्तुलनम्॥

३१. समत्व-विनय-श्रुत-तपश्चारित्रभेदात् स पञ्चधा॥

३२. रागद्वेष-विकल्पशून्यत्वात्, मान-विकल्पशून्यत्वात्, चित्तस्थैर्यानुभवात्, भेदविज्ञानानुभवाद्, समत्वादीनि समाधिपदवाच्यानि॥

३३. कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या॥

३४. कृष्ण-नील-कापोत-तेजः पद्म-शुक्ला॥

पांचवां प्रकरण

१. प्राणापान-समानोदानव्यानाः पंच वायवः॥

२. नासाग्र-हृदय-नाभिः पादांगुष्ठान्तगोचरो नीलवर्णः प्राणः॥

३. पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिगः श्यामवर्णः अपानः॥

४. सर्वसन्धि-हृदय-नाभिगः श्वेतवर्णः समानः॥

५. हृदय-कण्ठ-तालु-शिरोन्तरगो रक्तवर्ण उदान.॥

६. संर्वत्वग्वृत्तिको मेघधनुस्तुल्यवर्णो व्यानः॥

७. नासादिषु स्वस्वस्थानेषु रेचक-पूरक-कुम्भकैस्तज्जयः॥
८. यै पै वैं रौं लौं तद्ध्यानबीजानि॥
९. जठराग्निप्राबल्यं वायुज्जयः शरीरलाघवञ्च प्राणस्य लब्धयः॥
१०. व्रणसरोहण-अस्थिसन्धान-अग्निप्राबल्य-मलमूत्राल्पता व्याधिजयः अपानसमानयोः॥
११. पंककण्टकबाधाऽभाव उदानस्य॥
१२. ताप पीड़ाऽभाव आरोगित्वञ्च व्यानस्य॥
१३. चन्द्रनाड्या वायुमाकृष्य पादाङ्गुष्ठान्तं तन्नयनं क्रमशः पुनरुन्नयनं पुनर्नयनञ्च मनः स्थैर्याय॥
१४ पादाङ्गुष्ठतो लिङ्गपर्यन्तं वायुधारणेन शीघ्रगतिर्बलप्राप्तिश्च॥
१५. नाभौ तद्धारणेन ज्वरादिनाशः॥
१६. जठरे तद्धारणेन कायशुद्धिः॥
१७. हृदये तद्धारणेन ज्ञानोपलब्धिः॥
१८. कूर्मनाड्यां तद्धारणेन रोगजराविनाशः॥
१९. कण्ठकूपस्य निम्नभागे स्थिता कुण्डलिसर्पाकारा नाडी कूर्मनाडी॥
२०. कण्ठकूपे तद्धारणेन क्षुत्तृषाजयः॥
२१. जिह्वाग्रे तद्धारणेन रसज्ञानम्॥
२२. नासाग्रे तद्धारणेन गन्धज्ञानम्॥
२३. चक्षुषोस्तद्धारणेन रूपज्ञानम्॥
२४. कपाले तद्धारणेन क्रोधोपशमः॥
२५. ब्रह्मरन्ध्रे तद्धारणेन अदृश्यदर्शनम्॥
२६. आस्थाबन्धो दीर्घकालासेवनं नैरन्तर्य कर्मविलयश्चात्र हेतुः॥
२७ मनोनुशासनाद् अतीन्द्रियोपलब्धिः॥

छठा प्रकरण

१. सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम्॥
२. सर्वभूतेषु संयम अहिंसा॥
३. कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादित्वञ्च सत्यम्॥
४. परोपरोधाकरणमस्तेयम्॥
५. वस्तीन्द्रियमनसामुपशमौ ब्रह्मचर्यम्॥

६. बाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रहः॥
७. आलोके भोजन पानञ्च॥
८. भूमि प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत्॥
६. प्रतिलेखन-प्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात्॥
१०. क्रोध-लोभ-भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य आचक्षीत्॥
११. अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत्॥
१२. ब्रह्मचर्य-घातिसंसर्गेन्द्रियप्रयोगं विवर्जयेत्॥
१३. प्रियाप्रिययोर्न रज्येद् न द्विष्याद् न च देहमध्यासीत्॥
१४. स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम्॥
१५. क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्मः॥
१६. क्रोध-निग्रहः क्षमा॥
१७. हीनानामपरिभवनं मार्दवम्॥
१८. माया-निरोध आर्जवम्॥
१६. शौचमलुब्धता॥
२०. सत्यम्॥
२१. हिंसादिप्रवृत्तेरुपरमणं संयमः॥
२२. कर्म-निर्जरणहेतु पौरुषं तपः॥
२३. सविभागकरणं त्यागः॥
२४. स्वदेहे निःसंगता आकिंचन्यम्॥
२५. ब्रह्मचर्यम्॥
२६. शयनकाले सत्संकल्पकरणम्॥
२७. ते च—ज्योतिर्मयोऽह आनन्दमयोऽहं स्वस्थोऽहं निर्विकारोऽहं वीर्यवानहं—इत्यादयः॥
२८. निद्रामोक्षे जपो ध्यानञ्च॥
२६. परानिष्टचिन्तनेन मनोविघातः॥
३०. आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकासः॥

सातवां प्रकरण

१. तपः-सत्त्व-सूत्र-एकत्व-वलभेदात् पंचधा भावना प्रतिमां जिनकल्पं

वा प्रतिपद्यमानस्य॥

२. तपसा क्षुधाजयः॥

३. षण्मास यावन्न बाधते क्षुधया॥

४. सत्त्वभावनया भयं निद्राञ्च पराजयते॥

५. उपाश्रय-तद्बहिः-चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेष्विति स्थान-भेदात् पंचधा॥

६. रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्ग-करणं प्रथमा॥

७. क्वचिदुपाश्रयाद् बहिस्तात् कायोत्सर्गकरणं द्वितीया॥

८. चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरणं पराः॥

९ सूत्रभावनया कालज्ञानम्॥

१०. सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वास-प्राणादयः सर्वे कालभेदा अवगताः स्युस्तथा सूत्रपरिचय.॥

११. एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मानं भावयन् भवति निरभिष्वङ्गः॥

१२. बलभावनया परीषहाणां जयः॥

१३. वलं शारीर मानसञ्च॥

१४. तत्र मानसं तथा परिवर्धितं यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत् बाधा॥

१५. यथाशक्ति चैताः परेषामपि॥